सूचीपत्र

चित्र-सूची

भूमिका

भारतवर्ष की ऐतिहासिक घटनाओं की माला जिस धागे में गुँथी हुई है वह एकसा नहीं—कई स्थानों पर जुड़ा हुआ है। माला के उस धागे में, बीच बीच में,—वैदिक, बौद्ध, मुसलमान और आधुनिक ये—मोटी मोटी चार गाँठें हैं। वैदिक से बौद्ध-पर्व में आते समय धागा एक जगह टूट गया है; बौद्ध से मुसलमान-पर्व में आते समय धागा बहुत दूर तक टूटा पड़ा है। वेदों के साथ ब्राह्मण-श्रेणी के ग्रन्थों का पार्थक्य न समझने के कारण कुछ लोग वेद में सिर्फ़ याग-यज्ञ का ही वर्णन मानते हैं किन्तु जिस समय वैदिक-समाज में क्षत्रियों और ब्राह्मणों के बीच धर्म्म-मत के लिए झगड़ा हो रहा था उस समय क्षत्रिय लोग जिस प्रकार एक ओर यह समझाने की चेष्टा करने लगे कि वेदों के सारभूत उपनिषद् का ब्रह्मतत्त्व ही सब देवताओं का "परम-दैवत" है उसी तरह दूसरी ओर ब्राह्मणों ने याग-यज्ञ-समन्वित क्रिया-काण्ड को अत्यन्त जटिल बना दिया।

ब्राह्मण-क्षत्रियों के इस झगड़े के युग में ही बुद्ध ने जन्म लिया था—वे राजपुत्र थे। किन्तु इस स्थान का धागा टूटा हुआ है, इस कारण उल्लिखित बातों को प्रमाणित करना अत्यन्त कठिन है।

बौद्ध-धर्म जिस समय—महायान और हीनयान—दो मार्गों में विभक्त हो गया और उत्तरी भारतवर्ष में शक, हूण प्रभृति विदेशी जातियों के प्रभाव से आर्य-अनार्य का भेद-चिह्न लुप्त होने लगा उस समय दक्षिण प्रदेश की अनार्य्य देव-देवियों की पैठ हिन्दू-समाज में धीरे धीरे होने लगी। हर्षवर्धन के समय में भी बुद्ध-मूर्त्ति और शिव-मूर्त्ति के, पास ही पास, पुजने का दृष्टान्त देख पड़ता है। बौद्धों के 'बुद्ध, धर्म और सङ्घ का त्रित्व,' पौराणिक ब्रह्मा, विष्णु और शिव के त्रित्व

में कब और क्योंकर परिणत हो गया तथा बौद्धों का शून्यवाद शैव-धर्म में किस प्रकार रूपान्तरित हुआ—इसकी आलोचना करना इतिहास-वेत्ताओं का काम है। अनार्य देवी-देवताओं की पुराण-कथाओं तथा पूजा-पद्धति में—घोंघे में मोती की तरह—बौद्ध धर्म छिप गया। अनार्य देवी-देवता अपनी सब प्रकार की अनार्यता-समेत आर्य्य-सभा में उपस्थित हुए थे किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि वे सब के सब ग्वासे 'हिन्दू' हो गये। बौद्ध धर्म ने जाति-पांति का भेद-भाव हटा कर अनार्यों को भी अपनी गोद में स्थान दिया था। अनार्यों-द्वारा विकृत हो कर, उनके देवी-देवता और पूजा-पद्धति में, बौद्ध धर्म—अपने पतन-समय में—यहां तक हिल-मिल गया कि उसका अस्तित्व ही लुप्त हो गया। धीरे धीरे उच्च वर्ण के ब्राह्मण भी इस पौराणिक धर्म को ग्रहण करने के लिए बाध्य हुए। इस सम्बन्ध में जो लड़ाई-झगड़े हुए थे उनका बखूबी पता दक्ष-यज्ञ की घटना से लगता है। जो हो, अन्त में जब पौराणिक धर्म बन कर तैयार हो गया तब ब्राह्मण-प्राधान्य एक नया जाति-तन्त्र प्रतिष्ठित हुआ। इस सुदीर्घ समय में, जब कि उधेड़-बुन की खिलवाड़ हो रही थी तभी, इस देश में मुसलमानों का प्रवेश हुआ। किन्तु इससे पहले के विचित्र इतिहास की सारी सामग्री कहां मिलेगी ?—यहीं पर बहुत जगह खाली पड़ी है।

यही अड़चन है जिससे आज तक भारतवर्ष का यथार्थ इतिहास नहीं लिखा जा सका। भारतवर्ष को हम लोग सम्पूर्ण रूप में नहीं पहचानते, हम तो उसके एक एक टुकड़े को—अलग अलग—जानते हैं; और उन्हीं टुकड़ों को, मोटी गांठें लगा कर किसी तरह, जोड़ लेने की हमने चेष्टा भी की है। इस इतिहास की धारा कुछ कुछ फल्गु नदी की धारा के समान है। बहुत दूर तक तो जल का प्रवाह है, किन्तु अकस्मात् किसी किसी स्थान पर वह बालू में छिप जाता है। इस बालुका को हटा कर, भारतवर्षीय इतिहास के छोटे छोटे चश्मों को एकाकार कर के भारत के सम्पूर्ण इतिहास का विराट् चेहरा जो हमारे आगे कर देंगे,

वे महापुरुष इस समय तक नहीं पधारे हैं। हम उन्हीं भविष्यद्विधन की बाट जोहते हैं।

परन्तु तब तक हाथ पर हाथ रक्खे बैठा रहना भी ठीक नहीं। क्योंकि हमारे मन में स्वदेश-प्रेम—राख में छिपी हुई आग की चिनगारियों की तरह—चमक रहा है। आखिर हमें अपने बेटे-बेटियों को देश के ही बेटे-बेटी बनाना है। तो क्या वे भारतवर्ष की कोई भी बात न जानेंगे? क्या उन्हें यही मालूम होने दिया जाय कि भारतवर्ष के इतिहास का मतलब है थोड़ी सी बिखरी हुई घटनाओं की समष्टि—जिसके बीच किसी तरह का जैव सम्बन्ध नहीं है? ऐसे इतिहास को पढ़ने से भारतवर्ष के प्रति उनकी श्रद्धा कभी नहीं बढ़ सकती। भारतवर्ष का जो इतिहास वे पढ़ते हैं उसमें इतिहास के पञ्जर की हड्डियाँ भी ठीक ठिकाने पर नहीं रक्खी गई हैं—रक्त-मांस की कमी को तो पूछता ही कौन है। इस बिखरे हुए उच्छिष्ट स्तूप में से, भिखारी-भिखारिनी की तरह, सूखी हड्डियाँ चचोर कर रस निकालने का प्रस्ताव उनसे कौन कर सकता है? और जो करता है वह देश पर प्रेम नहीं करता। वह नहीं जानता कि जहाँ समग्रता की छवि नहीं है वहाँ मनुष्य का प्रेम कैसे हो सकता है। भारतवर्षीय इतिहास की टूटी हुई माला की सख्त गाँठें, फाँसी के फन्दे की तरह, भारत की तरुण सन्तान के आगे उसके देश के इतिहास को डरावना बना देंगी।

यह सच है कि उस टूटी हुई माला में जहाँ तहाँ फूलों के गुच्छे हैं और उनमें अभी तक सुगन्धि भी है। क्योंकि वे अभी तक भारत के प्राणों की तह में छिपे हुए हैं। उस प्राण-वृक्ष में उनका पुष्पोत्सव समाप्त नहीं हो गया। घटना हो जाती है और इतिहास के पन्नों में स्याही का चिह्न लगा कर न जाने कहाँ चली जाती है। किन्तु जब सत्य-साधना सङ्घटित होती है तब वह समय-समय पर मनुष्य-हृदय में मार्ग बना कर चलती है; उसका अन्त नहीं होता।

इसी से भारतवर्ष की घटनावली का तो इतिहास नहीं है, किन्तु

साधना का इतिहास अवश्य है। बुद्ध, नानक, कबीर प्रभृति की साधना किसी युगविशेष में फूल की तरह खिल कर और भक्त-मधुकरों को दिङ्गिगन्त से आकृष्ट कर के मुरझा नहीं गई। वह फूल तो अमरता का फूल है, वह निरन्तर विकसित बना रहता है। उसका व्यवहार कर के सम्प्रदाय ने उसे जीर्ण कर दिया है,—धूल में डाल दिया है सही किन्तु वह फूल सम्प्रदाय के व्यवहृत बंद्ध-मन्दिर का निर्माल्य नहीं है। वह तो प्राणों की वस्तु है। यही कारण है कि भारतवर्ष में जब जिस समय प्राण जाग्रत हुए हैं तब उसी समय उसका नवीन विकास दृग्गोचर हुआ है। उपनिषदों के "सर्वभूत" के बीच आत्मा का दर्शन करने की साधना बुद्धदेव की 'विश्वमैत्री' की साधना में नूतन भाव से प्रकट हुई थी। और, उस प्राचीन अद्वैतवाद ने मध्य युग में द्राविड़ी वैष्णव धर्म तथा मुसलमानों के सूफ़ी सम्प्रदाय के साथ त्रिवेणी-सङ्गम में सम्मिलित हो कर कबीर की साधना के बीच नव-विकाश प्राप्त किया था। नानक और रैदास की साधना में इसी हिन्दू-मुसलमानों की द्वैतरस-धारा का ज्वार आ गया था—उनकी साधना के फूलों में सूफ़ी सम्प्रदाय का और हिन्दुओं की रसानुभूति का रङ्ग ऐसा हिल-मिल गया है कि उसको पहचान लेना कठिन है।

प्राणों की इन सारी क्रियाओं को, सूई में जाने-योग्य करके, जो पण्डित घटना के सङ्गतिसूत्र में पिरोना चाहते हैं वे जानते हैं कि इन प्राणों की सूई से हाथी तो पिरोया जा सकता है किन्तु उनका बनाया इतिहास नहीं पिरोया जा सकता। कबीर और नानक की साधना में जिस मुसलमान धर्म ने रस-संचार किया है और नया रूप प्राप्त किया है उसी ने दुबारा, वर्त्तमान काल में, राममोहन के द्वारा प्राचीन शास्त्र-खानि खुदवा कर वेदान्त-रत्न का उद्धार कराया है। कबीर ने एक स्थान पर अपने साधन-तत्त्व को प्रकट किया है।—

भीतर कहूँ तो जगमय लाजै बाहर कहूँ तो झूठा लो।
बाहर-भीतर सकल निरन्तर चित-अचित दोऊँ पीठा लो॥

अगर यह कहूँ कि वह भीतर है तो जगत् लज्जित होता है और जो उसे बाहर बताऊँ तो झूठ बात होती है। वह तो बाहर-भीतर निरन्तर व्याप्त है; चेतन और अचेतन दोनों उसके पायन्दाज़ हैं। फिर, कबीर की इस साधना ने जब आगे चल कर वैष्णव धर्म के प्रबल प्रभाव से भगवान् के अपरूपत्व को धीरे धीरे भूल कर रूप और रूपक के जाल को घना कर दिया तब—"जगमय लाजै"—सारा विश्व लज्जित हो गया। अब फिर मुसलमानी धर्म की आलोचना करने से जो महापुरुष एक दिन बङ्गाल में जाग्रत हुआ था उसने प्रचलित भक्ति-धर्म के जंजाल को हटा कर बन्द 'मन्दिर' के देवता को सब के सम्मुख कर दिया। उसने विश्व-धर्म और विश्व-सभ्यता के बीच हमारे धर्म और हमारी सभ्यता को देखने के लिए उद्योग करते समय हमारे धर्म के सब से श्रेष्ठ रूप का आविष्कार उपनिषदों में किया। किन्तु यहीं पर इस नवीन साधना का स्रोत रुक नहीं गया। वह स्रोत कई रास्तों से निकल पड़ा। वह भारतवर्ष के ब्रह्मनाम-मुखरित पूर्वाचल से विचित्र धर्म-कर्म-प्रवाह के तरङ्ग-संकुल मध्य पथ को लाँघ कर पश्चिम समुद्र-प्रान्त-वर्त्ती पश्चिमाचल तक समस्त धाराओं को एकाकार करके विराट् रूप में देखना चाहता है। इसी से भारत की वह चिरन्तन साधना आज भी जीवित है।

मेरे श्रद्धेय मित्र श्रीयुक्त शरत्कुमार राय ने यह भारतीय साधक नाम की पुस्तक लिखी है। भारतीय साधना के इस अन्तस्तर योगसूत्र में भारतवर्ष के इतिहास को ग्रथित-सम्पूर्ण करके देखने की चेष्टा की जाती तो सोने में सुगन्ध की कहावत चरितार्थ होती। कारलाइल ने अपनी वीर और वीरपूजा नाम की पुस्तक में संसार भर के इतिहास को महापुरुषों के जीवनचरित्र और साधना के बीच होकर पढ़ना चाहा था। दुनिया का इतिहास केवल महापुरुषों के इतिहास-द्वारा सम्पूर्ण रूपेण जाना जा सकता है कि नहीं इसमें सन्देह है। क्योंकि दुनिया के इतिहास का गठन कुछ महापुरुषों के ही हाथ से नहीं हुआ, उसमें जनता ने भी तो

सहारा दिया है। जो हो, भारतवर्ष के महापुरुषों—साधकों—का इतिहास एक हिसाब से भारतवर्ष का सजीव इतिहास है और वह भी एकमात्र। भारतवर्ष राष्ट्रीय शक्ति से पाश्चात्य सभ्य देशों की तरह शक्तिशाली नहीं हुआ। भारतवर्ष की जनता जिस क्षेत्र में व्यूहबद्ध हुई है वह धर्म का क्षेत्र है—राष्ट्र का नहीं।

इस पुस्तक में शरत् बाबू ने भारतवर्ष के जिन साधकों का परिचय दिया है वे भारतवर्ष के इतिहास-नाल्य के सचमुच फूलों के गुच्छे हैं। वे सभी चिरप्राण हैं। उन्होंने अपना निर्मल जीवन व्यक्तिगत रूप से व्यतीत नहीं किया; वे घर या गाँव के मनुष्य नहीं हैं—वे तो इतिहास के मनुष्य हैं। उनकी साधना भारतवर्ष के इतिहास को लगातार नई गति प्रदान करती रही है। भारतवर्षीय समाज के आचार, नियम और अनुशासन आदि की परवा छोड़ कर वे खुले मार्ग पर चले थे और उसी पर उन्होंने सब को लाकर खड़ा किया था।

इससे हमारे मन में एक बात और आती है। वह यह कि भारतवर्ष के समाज-तत्त्व के सम्बन्ध में हम लोगों की राय कुछ भी क्यों न हो, किन्तु इन सभी साधकों के जीवनचरित से स्पष्ट देख पड़ता है कि भारतवर्ष के समाज ने उनकी धर्मसाधना के यथार्थ सत्य,—यथार्थ प्राणों के विकाश,—के मार्ग को रोक लिया है। इनमें एक भी ऐसा नहीं जिसको समाज ने तङ्ग न किया हो और जिसे समाज की तङ्ग गली छोड़ कर विश्व की सड़क पर न आना पड़ा हो। फलतः जो लोग कहते हैं कि भारतवर्ष के अद्भुत समाज का सङ्गठन ऐसे आदर्श पर हुआ है कि यहाँ धर्म की प्राप्ति इतनी सहज और स्वाभाविक है जैसे कि साँस लेना; और समाज के नियम, धर्म के नियम तथा सभी आचार धर्म-भित्ति पर ही प्रतिष्ठित हैं; उन लोगों को यह पुस्तक प्रश्न के तौर पर पढ़नी चाहिए। भारतवर्ष के ब्राह्मण्य-धर्म के सिवा जो कोई प्राणमय, जीवनमय धर्म आज तक इस देश के प्राणों में बचा हुआ है उसकी जड़ में समाज-द्रोहिता ही थी। समाज के प्रति अनुकूलता का भाव उसमें

न था। इसके अनन्तर, प्रसङ्गानुसार, उन सम्प्रदायों में से कोई तो यहाँ से विलुप्त हो गया है और किसी ने समाज के साथ किसी न किसी तरह मेल-जोल कर लिया है। बौद्धों को तो यहाँ से विलुप्त हुए मुद्दत हो गई। कुछ लोगों की राय में भारतवर्ष की बहुतेरी अन्त्यज जातियाँ बौद्ध हैं। असल में वे अनार्य नहीं; उन जातियों को तो हिन्दुओं के उत्पीड़न ने हीनदशा में ला पटका है। नानकपन्थी सिक्खों ने जाति-पाँति के झगड़े को एक तरह से बिलकुल हटा दिया है। अन्यान्य दल विशाल हिन्दू-समाज के आचार का पालन करते हुए किसीप्रकार बचे हुए हैं। भारत-वर्ष के प्राणों का फुहारा एक एक युग में, एक एक महापुरुष के आविर्भाव से, थोड़ी देर के लिए छूट कर समाज के दवाव से फिर बन्द हो जाता था। इसी लिए भारत के महापुरुष राममोहन राय सिर्फ़ धर्म के भावगत आन्दोलन को ही जगा कर नहीं रह गये, प्रत्युत उन्होंने समाज का गठन उस बृहत् धर्म के अनुरूप करने के लिए उसमें सुधार करने का भी अनुष्ठान किया था। *

---

* स्वर्गीय बाबू अजितकुमार चक्रवर्ती-लिखित भूमिका का अनुवाद।

साधक बुद्ध ।

भारतीय साधक

बुद्ध

"माता जैसे अपने प्राणों का मोह न करके स्नेह से पुत्र की रक्षा करती है और उस पर असीम दया रखती है, वैसे ही तुम भी सब जीवों पर अपार दया भाव रक्खो। संसार में जितने थलचर और जलचर आदि अनेक श्रेणियों के छोटे बड़े जीव तुम्हारे चारों ओर देख पड़ते हैं, उन्हें तुम वैर-भाव-रहित हृदय और करुणाभरी दृष्टि से देखो। उठते, बैठते, चलते, फिरते, सोते, जागते तुम्हारे हृदय में सदा सब प्राणियों पर मैत्रीभाव का उदय हो।"

"तुम आप ही अपने सहारे की लाठी बनो, स्वावलम्ब की शिक्षा ग्रहण करके आप ही अपने ऊपर निर्भर रहो। दूसरे की सहायता का भरोसा न करो। आप ही अपना प्रकाश दीप बनो। वह अक्षय्य दीप सत्य ही है। इस दीप को दृढ़ हाथ से धारण कर निर्वाण-साधन में प्रवृत्त हो।"

"सब प्रकार के पापों से बचे रहना, भूल कर भी कोई अनुचित काम न करना, शुभ कर्म्म का अनुष्ठान करना, और चित्त को सदा शुद्ध रखना ही गुरु का अनुशासन है।"

"धर्म को अपने घूमने फिरने का प्रमोद-कानन बनाओ, धर्म ही को तुम आनन्द समझो। धर्म ही तुम्हारा आधार हो, धर्म ही तुम्हारा ज्ञातव्य विषय हो। ऐसा कोई काम न करो जिससे धर्म में धब्बा लगे। किसी प्रकार के व्यर्थ वाद को मन में जगह मत दो। अच्छी बातों के सोचने समझने और उत्तम काम करने में तुम्हारा समय व्यतीत हो।"

आज से कोई ढाई हज़ार वर्ष पूर्व एक महापुरुष ने यह अपूर्व मैत्री, महत्वपूर्ण आत्मनिर्भरता और मङ्गलमय सद्धर्म की वाणी सुनाने के लिए हिमालय पहाड़ के समीपवर्ती कपिलवस्तु नगर में शाक्य जाति के प्रधान शासक शुद्धोदन के घर जन्म लिया था।

पृथ्वी पर अवतीर्ण होने के अनन्तर इस बालक ने केवल सात दिन माता (महामाया) की गोद में बैठने का सुख पाया था। सातवें दिन माता का चिरवियोग होने पर उसकी सौतेली माँ महा प्रजावती गौतमी ने उसके पालन-पोषण का भार लिया। बालक ने बूढ़े बाप की सांसारिक सुख-लालसा पूरी की थी, इसलिए उसका नाम "सर्वार्थसिद्ध" या "सिद्धार्थ" रक्खा गया।

सौतेली माँ, बाप, ज्ञातिवर्ग और पुरवासियों का अयाचित अपार स्नेह इस प्रभावशाली बालक के तरुण चित्त को आनन्द से पूर्ण नहीं कर सका। वह स्वभाव से ही उदासीन और संसार-विमुख था। तीक्ष्ण-बुद्धि होने के कारण वह थोड़े ही समय में पढ़ लिख कर अनेक शास्त्रों में पण्डित हो गया और क्षत्रियोचित युद्ध-विद्या में भी उसने अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली।

किशोर अवस्था से ही सिद्धार्थ का तरुण हृदय प्राणियों का दुःख देखकर द्रवित होने लगा। नृत्य, गीत और हँसी खेल के समय में भी जब तब उनके मन में यह बात झलक जाती थी कि जरा, व्याधि और मृत्यु ने मनुष्य के जीवन को दुःख-

मय कर रक्खा है । किस उपाय से जीवों को इन दुःखों से छुटकारा मिल सकता है, यह चिन्ता बिजली की चमक की तरह कभी कभी उनके चित्त में चमक उठती थी । सिद्धार्थ के हृदयपट पर यद्यपि बाल्य और किशोर अवस्था में अपने भावी जीवन का अत्यन्त गौरवान्वित आदर्श चित्र प्रतिबिम्बित नहीं हुआ था फिर भी इस ऊँचे आदर्श की धुँधली छाया ज़रूर पड़ी थी । उन्होंने समझ लिया कि सब प्राणियों की भलाई के लिए मुझे कठिन साधना करनी पड़ेगी ।

मन में इस प्रकार का विचार जाग्रत होने से किसी भी काम में उनका जी नहीं लगता था । उनके विचार-गाम्भीर्य और वैराग्य ने संसारी उलझनों में फँसे हुए पिता शुद्धोदन के चित्त को चिन्तित कर दिया । राजा ने पुत्र को सांसारिक सुख-भोग की ओर झुकाने की इच्छा से उनका विवाह शाक्य-वंशीय, एक रूप-गुण-सम्पन्न कुमारी गोपा के साथ कर दिया । अपने जीवन के सुख दुःख की संगिनी, सुशीला गोपा को पाकर सिद्धार्थ ने कुछ काल तक सुख से समय बिताया ।

सांसारिक सुख की ओर सिद्धार्थ के चित्त की वृत्ति जब कुछ झुक गई तब वसन्तकाल में उन्होंने शहर में घूमते समय पहले दिन एक पलित केश, शिथिल चर्म, कम्पित पद और जरा-जीर्ण वृद्ध को देखा और दूसरे दिन अस्थिचर्मावशेष, गति-शक्ति-विहीन शय्यागत रोगी को तथा तीसरे दिन एक मुर्दे को देखा । जरा, व्याधि और मृत्यु का यह शोकदायक

दृश्य सिद्धार्थ ने अपने इस उनतीस वर्ष के वयस में सैकड़ों दफ़े देखा था । जीव का यह अनिवार्य दुःख उनकी मानसिक चिन्ता का विषय हुआ था, इसमें सन्देह नहीं । किन्तु इसी समय एकाएक उन्हें इन घटनाओं का गूढ़ रहस्य दिव्यदृष्टि से दीख पड़ा । उनके मन में एक नई चिन्ता की तरङ्ग लहराने लगी । अब तक जो चिन्ता कभी कभी उनके चित्त को अस्थायी भाव से डावाँडोल कर देती थी वही चिन्ता अब सदा के लिए स्थायी हो गई । सिद्धार्थ ने सोचा कि बुढ़ापा जिसके स्वास्थ्य और शोभा को एक न एक दिन अवश्य हर लेगा, उसे साधारण सुखभोग में उन्मत्त होना क्या शोभा देता है ? व्याधि जिसे हर घड़ी सताने को तैयार रहती है, उसके लिए अनित्य सुख की खोज में दौड़ धूप करना क्या उचित है । भीषण मृत्यु मुँह फैलाये हुए बराबर जिसके पीछे लगी फिरती है, उसके लिए पागल की भाँति शत्रु के हाथ में आत्मसमर्पण करना क्या युक्ति-संगत है ? सिद्धार्थ के मन में प्रश्न उठा—वह कौन साधन है, जिसकी सिद्धि से मनुष्य इस अनन्त दुःख से छुटकारा पाकर नित्य सुख, शान्ति देनेवाले निर्वाण को प्राप्त कर सकता है ? वे इस बात को सोचते सोचते थक गये, पर कोई सिद्धान्त स्थिर न कर सके ।

सिद्धार्थ जब इस प्रकार की चिन्ताओं में डूबे थे, उनको अपना उद्देश सफल होने का कोई उपाय न सूझता था; उसी अवसर में एक काषायवस्त्र-धारी सौम्यमूर्त्ति साधु ने उनकी

दृष्टि को अपनी ओर खींचा। साधु का निर्विकार भाव देख कर वे मुग्ध होगये। उन्होंने सोचा, इसी तरह हम भी उदासीन और गृह-त्यागी होकर समस्त मानव-जाति के लिए मुक्ति का मार्ग खोज निकालेंगे। उन्होंने भली भांति यह भी समझ लिया कि भोग-विलास में फँसे रह कर इस महासाधन में सिद्धि प्राप्त करना असम्भव है। उस समय उनका मन भाँति भाँति की चिन्ताओं से आन्दोलित हो रहा था। एक ओर त्याग की प्रबल इच्छा थी और दूसरी ओर संसार के सुख-भोग और स्नेह-ममता का दृढ़तर खिंचाव था। उनके मन में जब इस प्रकार चिन्ता की चोट चल रही थी तब उन्होंने एक दिन सुना कि उनकी प्रियतमा गोपा के पुत्र उत्पन्न हुआ है। वे झट ताड़ गये कि स्नेह का यह नया बन्धन हमारे लिए ही प्रादुर्भूत हुआ है। उन्होंने निश्चय किया कि अब विलम्ब करना अच्छा नहीं। सब मनुष्यों के दुःख का बोझ अपने सिर पर लेकर शीघ्र ही मोह का त्याग करना श्रेयस्कर होगा।

सिद्धार्थ ने पिता को संसार त्याग का कारण और अपना संकल्प जा सुनाया। उनके प्रस्ताव पर राजा शुद्धोदन किसी प्रकार सम्मत न हुए। तब सिद्धार्थ ने पिता से कहा—"यदि आप मुझे (नीचे लिखे) चार वरदान दें तो मैं गृहस्थाश्रम में रह सकता हूँ—

(१) बुढ़ापा मेरे यौवन का नाश न करे।

(२) रोग मेरे स्वास्थ्य को हरण न करे।

(३) मृत्यु मेरे जीवन को नष्ट न कर सके; और

(४) मेरी सम्पत्ति कभी ह्रास को प्राप्त न हो ।

पुत्र की यह प्रार्थना सुनकर पिता के आश्चर्य की सीमा न रही। उन्होंने बेटे से कहा—"तुम्हारी प्रार्थना पूरी करना मनुष्य के सामर्थ्य से बाहर है। तुम इस असंभव के पीछे पड़ कर अपने जीवन को दुःखमय मत करो।

पिता के इस उत्तर से सिद्धार्थ के मन को सन्तोष न हुआ। शुद्धोदन ने जिसको असंभव कह कर टाल दिया उसे सिद्धार्थ ने श्रमसाध्य और संभव जान कर प्राप्त करना चाहा। जिस सात्विक भाव ने उन्हें उत्साहित किया है, भावी साफल्य की जिस आशा ने उनके मन में अपूर्व बल का संचार किया है, उस भाव को उन्होंने बहुत सत्य माना। उन्होंने विनय-पूर्वक पिता से कहा—मृत्यु एक न एक दिन आकर हम लोगों में वियोग करावेगाही। इसलिए आप मेरे साधनमार्ग के विरोधी न हों। गृहोचित सुख छोड़ने के सिवा कल्याण प्राप्त करने का मैं दूसरा कोई उपाय नहीं देखता।

पिता के पैर छूकर सिद्धार्थ चले गये। शुद्धोदन ने पुत्र को घर से बाहर न जाने देने के लिए प्रत्येक द्वार पर सख़्त पहरा बिठा दिया।

चिन्ता के बोझ को सिर पर लिये, उदास मन किये, सिद्धार्थ ने धर्मपत्नी गोपा के महल में प्रवेश किया। वहाँ नाच-गान हो रहा था। वह लौकिक आनन्द उनके मन को मुग्ध न कर

सका। वे चुपचाप अपने मन की बात को मनही मन सोच रहे थे। पति को इस प्रकार चिन्तित देख कर गोपा ने बड़ी व्यग्रता से पूछा—"आज आप ऐसे उदास क्यों हैं?" सिद्धार्थ ने कहा—"तुमको देख कर मैं जिस आनन्द का अनुभव करता हूँ वही आनन्द आज मेरी उदासी का कारण हो रहा है। मैं भली भाँति समझ गया हूँ कि हम लोगों के मिलन का यह आनन्द क्षण-स्थायी है। हमारे सुख के मार्ग में जरा, व्याधि और मृत्यु काँटा हो पड़ी है।"

सिद्धार्थ के मन से सुख, शान्ति और आनन्द जाता रहा। वे अपने उच्च संकल्प की साधना के लिए सर्वस्व त्याग देने को तैयार हुए और स्नेह ममता का कठिन बन्धन तोड़ कर वे घर छोड़ने का सुयोग्य ढूँढ़ने लगे।

गहरी रात है। सर्वत्र सन्नाटा छाया हुआ है। सभी पुरवासी गाढ़ निद्रा में निमग्न हैं। ऐसे समय में सिद्धार्थ अपनी सोई हुई सहधर्म्मिणी गोपा देवी के पास ध्यान लगाये बैठे थे। एकाएक उनके हृदय में यह बात प्रतिध्वनित हुई—"समय उपस्थित है।" सोई हुई पत्नी के मुँह की ओर देखकर उन्होंने मन ही मन कहा—प्रियतमे, जीवों के अनिवार्य दुःख से मेरा मन व्यथित हो रहा है। सब मनुष्यों के दुःख को सिर पर लेकर मुझे तपस्या करनी होगी। हम लोगों का वियोग इस असीम कल्याण के लाभ में सहायता करे; मानव-जाति के इस परम कल्याणकारक मुक्ति-मार्ग का आविष्कार किये बिना मैं कदापि घर न लौटूँगा।

सिद्धार्थ एकबार स्नेह और करुणाभरी दृष्टि से पत्नी तथा नवजात पुत्र के मुँह की ओर देखकर धीरे धीरे कमरे से बाहर निकले। उस निःशब्द रात में आकाश, वायु और तारागण सभी ने उन भावी महापुरुष को सीमाहीन मार्ग पर बुला लिया। सिद्धार्थ ने किसी तरह अपने सारथी छन्दक को राज़ी करके घोड़े पर सवार हो घर से चल खड़े हुए। जन्म से भोगे हुए घर के अनेकानेक सुखों का स्मरण करते और उन पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा करते हुए वे घोड़े पर चढ़े बड़े वेग से जा रहे थे। भोर होते होते वे अनोमा नदी के तीर पर जा पहुँचे।

नदी के उस पार जाकर सिद्धार्थ घोड़े से उतर पड़े। अपने आभूषण और पोशाक को उतार कर सारथी के हाथ में देते हुए उन्होंने कहा—"अब तुम जाओ। तुम शीघ्र कपिलवस्तु जाकर मेरे माँ बाप और पुरवासियों को मेरा कुशल-समाचार सुनाओ।" आँसू भरी आँखों के साथ सारथी लौट चला। इसी जगह सिद्धार्थ ने अपना सिर मुँड़ाया और एक बहेलिये से कपड़े बदल कर फटा पुराना गेरुआ वस्त्र धारण कर लिया। सिद्धार्थ वहाँ से भिखारी के वेष में अज्ञात मार्ग से चले। किस मार्ग का अवलम्बन करके वे साधन में प्रवृत्त होंगे, यह वे न जानते थे। किसकी कैसी उपासना है, कौन किस अभिप्राय से क्या साधन कर रहा है, यह देखने के लिए वे अनेक साधु, संन्यासियों और तपस्वियों के आश्रम में घूमते फिरते थे। राजगृह में राजा बिम्बिसार से उनकी भेंट हुई। बिम्बिसार ने

उनको गृहस्थी की ओर फेर लाने की बहुत चेष्टा की थी, परन्तु सब व्यर्थ हुई ।

सिद्धार्थ ने अनेक शास्त्रों के पण्डित आड़ार कालाम और रामपुत्र रुद्रक से कुछ समय तक धर्मशास्त्र पढ़ा । उन्होंने उनसे कुछ शास्त्रज्ञान उपलब्ध किया सही, परन्तु इन महात्मा पण्डितों के साहचर्य से उनके चित्त को रत्ती भर भी शान्ति प्राप्त न हुई । मुक्ति के जिस उदार मार्ग की खोज में वे सब कुछ त्याग कर भिखारी हुए हैं, उनके ये अध्यापक गण उस पथ के सन्धान के लिए रत्ती भर भी व्याकुल न हुए। सत्य के अनुसन्धान की प्रबल प्रेरणा से आख़िर सिद्धार्थ को इन गुरुदेवों का आश्रय भी छोड़ना पड़ा । उनकी इस असाधारण इच्छा ने रुद्रक के पाँच शिष्यों को मोहित कर लिया था । वे पाँचों के पाँचो सिद्धार्थ के साथ घर से निकल पड़े ।

सिद्धार्थ उन पाँचो शिष्यों के साथ अनेक स्थानों में घूमते फिरते निर्मल जल से शोभायमान नैरञ्जना नदी के तटवर्ती उरुविल्व वन में पहुँचे । इस वन-भूमि की शान्ति-पूर्ण शोभा ने उनके मन को मुग्ध कर दिया । साधन के योग्य इस अनुकूल स्थान में उन्होंने ध्यान के प्रभाव से मुक्तिपथ के आविष्कार का संकल्प किया ।

कठिन साधना से सफलता प्राप्त होगी, यह सोच कर वे दैहिक क्लेश की ओर टुक ध्यान न देकर उपवास और

जागरण द्वारा दुःखों से छुटकारा पाने का उपाय ढूँढ़ने लगे । ढूँढ़ने क्या लगे, कठिन तपश्चर्या में प्रवृत्त हो गये । उन्हें पता भी न लगा कि कितनी गर्मियाँ, कितनी वर्सातें, कितने जाड़े उनके माथे पर बीत गये । दुःख झेलते झेलते उनके शरीर की शोभा जाती रही। उनका हृष्ट, पुष्ट बलिष्ठ शरीर सूख कर काँटा होगया ।

किन्तु इतने क्लेश, इतनी यातना सह कर भी सिद्धार्थ अपने अभीष्ट को प्राप्त न कर सके । उनके मन की व्याकुलता किसी तरह दूर न हुई । आखिर उन्होंने यह निश्चय किया कि कठिन साधना से वासना की आग नहीं बुझ सकती और उसके द्वारा सत्य के निर्मल प्रकाश की आशा भी दुराशा मात्र है । एक दिन वे एक जामुन के पेड़ के नीचे बैठ कर अपने मन की अवस्था और कठिन तपस्या के फलाफल को विचारने लगे । उन्होंने सोचा कि मेरा शरीर बहुत दुबला पतला हो गया है; उपवास करते करते मैं इतना क्षीण होगया हूँ कि अब हड्डियाँ ही बच रही हैं, यह सब होने पर भी निर्वाणपद का कुछ पता न लगा। मैंने जिस कठोर साधन का अवलम्ब ग्रहण किया था वह किसी तरह आर्यमार्ग नहीं जान पड़ता । इस तपस्या से मेरा वह अभीष्ट सिद्ध न होगा। मुझे उचित है कि युक्त भोजन-पान के द्वारा शरीर को बलिष्ठ करके मन को मुक्तिपथ की खोज में लगाऊँ ।

इस प्रकार मन में सिद्धान्त स्थिर करके उन्होंने नैरञ्जना

के निर्मल नीर में भली भाँति स्नान किया। उनका शरीर ऐसा दुबला हो गया था कि स्नान के अनंतर, चेष्टा करने पर भी, वे किनारे पर न चढ़ सके। आख़िर नदी के गर्भ में झुकी हुई, पेड़ की एक डाल को पकड़ कर वे ऊपर आये।

सिद्धार्थ बड़ी धीमी चाल से अपनी कुटी की ओर चले। कुछ दूर जाते जाते वे रास्ते में बेहोश हो गिर पड़े। पाँचो शिष्यों ने समझा कि सिद्धार्थ मर गये, किन्तु बड़ी देर पीछे उन्हें चैतन्य हुआ देख वे उनको कुटी में ले गये। कठिन तपस्या की ओर से सिद्धार्थ का मन फिर गया किन्तु बहुत सोचने पर भी वे निश्चय न कर सके कि किस उपासना का अवलम्बन करें। चिन्ता की तरङ्ग उनके मन में लहराने लगी। मारे सोच के उनका चित्त घबड़ा गया। ऐसी अवस्था में उन्होंने एक दिन स्वप्न में देखा—'मानों देवताओं के अधिप इन्द्र उनके सामने एक तीन तार का सितार लिये खड़े हैं। उसका एक तार खूब कड़ा कसा था। उसको बजाते ही बहुत कर्णकटु बेसुरा सुर निकला। दूसरा तार बहुत ही ढीला था, उससे कोई भी सुर न निकला। बीच का तार न बहुत ढीला था न बहुत कड़ा। वह उचित रूप से कसा गया था; उस पर उँगली पड़ते ही चारों ओर मधुर सुर गूँज उठा।'

नींद टूटने पर सिद्धार्थ का हृदय सत्य की झलक से आलोकित हो गया। उन्हें साधन का मध्यवर्ती उदार मार्ग प्रत्यक्ष देख पड़ा। उन्होंने भोग विलास और कठिन साधन, इन दोनों

के मध्य में स्थित सत्यमार्ग का अवलम्वन करके बोधि के पाने का दृढ़ संकल्प किया ।

व्यर्थ के कठोर साधन से स्वास्थ्य भङ्ग हुआ देख, सिद्धार्थ चिन्तित हुए । वे समझ गये कि "वलिष्ठ शरीर और वलिष्ठ हृदय ही बोधिप्राप्ति के लिए उपयुक्त हैं ।" उन्होंने शरीर को बलवान् और मन को स्थिर करके दुबारा साधना में प्रवृत्त होने की बात स्थिर की । ऐसा दृढ़ संकल्प करके वे एक दिन कुछ रात रहते स्नान कर पवित्र हो एक पेड़ के नीचे शुद्ध भूमि में ध्यान लगाकर बैठ गये ।

समीप के सेनानी गाँव के एक धनवान् वणिक् की धर्म-शीला बेटी सुजाता, अनेक धर्माचरणों के फल से, एक पुत्ररत्न पाकर सोने के थाल में खीर ले आज ही वनदेवता को पूजने आई । उसकी एक सखी आगे आगे आ रही थी । वह पेड़ के नीचे बैठे हुए क्षीणकलेवर सिद्धार्थ के ध्यान-स्थित सुन्दर मुखड़े की अपूर्व ज्योति देख कर विस्मित हुई । दौड़ कर उसने सुजाता के पास जाकर कहा—"सखी, जल्दी चलकर देखो, देवता प्रसन्न होकर तुम्हारी पूजा लेने के लिए शरीर धारण किये बैठे हैं । सुजाता ने उमंग भरे मन से झट पट वृक्ष के नीचे पहुँच कर वड़ी श्रद्धा से वह थाली देवता के हाथ में रखदी । कामना पूर्ण होने का आशीर्वाद देकर सिद्धार्थ ने उसका वह महादान ग्रहण किया । मधुर स्वादिष्ठ खीर खाने से उनकी दुर्बल देह में बल का संचार हुआ । उन्होंने मीठे स्वर में सुजाता से कहा—

"मैं देवता नहीं, तुम्हारी ही भाँति मनुष्य हूँ। तुम्हारे उदार हाथ के इस महादान ने मेरी प्राणरक्षा की है, मेरे मन में नये उत्साह का संचार कर दिया है। मैं जिस सत्य की खोज में राज्य-सुख छोड़ कर संन्यासी हुआ हूँ उस सत्यलाभ का सहायक तुम्हारा यह अन्न हुआ। मेरे मन में आज दृढ़ धारणा हुई है कि मैं उस सत्य को पाकर अब अवश्य कृतार्थ हो सकूँगा। जाओ, तुम्हारा भला हो।"

इस घटना के अनन्तर सिद्धार्थ नियमित रूप से खाने पीने लगे। उनके इस परिवर्तन ने पाँचो शिष्यों के मन में भारी सन्देह उत्पन्न कर दिया। उन शिष्यों ने सोचा कि सिद्धार्थ अपने जीवन का महान उद्देश्य भूलकर साधना के सत्यपथ से दूर हट गये हैं। अब तक जो लोग उनको गुरु मान रहे थे, वे आज उनको छोड़ कर चल दिये। विमुख शिष्यों की यह श्रद्धा-हीनता देखकर सिद्धार्थ के मन में बहुत दुःख हुआ। भीतर की वेदना को दूर कर वे प्रशान्त चित्त से अकेले महासाधना में प्रवृत्त होने को प्रस्तुत हुए।

नैराश्य की काली घटा जो सिद्धार्थ के हृदय-आकाश में छा गई थी, दूर होने से उनका चित्त विमल आनन्द से भर गया। उनके हार्दिक आनन्द से प्रकृति देवी ने प्रसन्न मूर्ति धारण की। जब वे बोधि वृक्ष की ओर धीरे धीरे जा रहे थे तब मानों उनके आनन्द-पुलक से उनके पैरों के नीचे की धरती भी पुलकायमान हो रही थी। महासाधना की सफलता के

सम्बन्ध में जब सन्देह का कण मात्र भी अंश उनके मन में न रहा, सन्देह का बचा हुआ चिह्न तक सम्पूर्ण रूप से दूर हो गया, तब वे क्या भीतर और क्या बाहर सभी ओर से आशा का मधुर झंकार सुनने लगे। मानों आशा उन्हें पुकार कर यही कह रही थी कि—"हे साधक, हे उच्चाशय, तुम्हारे सिद्धिलाभ का माहेन्द्र मुहूर्त्त आने ही पर है। तुम महासाधना के द्वारा सिद्धिलाभ करके कल्याण की अक्षय निधि निर्वाण का आविष्कार करो।"

साँवली छटावाली सन्ध्या के सुहावने समय में सिद्धार्थ अश्वत्थ वृक्ष के नीचे नये तृण बिछा कर बैठ गये। साधना में प्रवृत्त होने के पहिले उन्होंने संकल्प किया—

इहासने शुष्यतु मे शरीरं
त्वगस्थिमांसं प्रलयञ्च यातु।
अप्राप्य बोधिं बहुकल्पदुर्लभां
नैवासनात् कायमतश्चलिष्यते॥

अर्थात् इस आसन पर मेरा शरीर भले ही सूख जाय, त्वचा, हड्डी और मांस भले ही गल पच जायँ, पर तो भी बहु कष्ट-साध्य चिरदुर्लभ बोधि को प्राप्त किये बिना मेरा शरीर इस आसन से न हटेगा।

पुरुषार्थशील सिद्धार्थ इस प्रकार महासंकल्प रूपी कवच से अपने को सुरक्षित करके साधन समर में प्रवृत्त हुए। वे शुद्ध और निष्पाप होने के लिए अपने हृदय के चिर-संचित पाप

और लालसा को निर्मूल करने के निमित्त युद्ध करने लगे। बुझने से पहले दीप की बत्ती जैसे एकाएक बड़े वेग से बल उठती है उसी तरह सिद्धार्थ की पाप-लालसायें सदा के लिए निरस्त होने के पूर्व कुछ देर तक एक दफे खूब जोर से प्रदीप्त हो उठीं। इस विद्रोही पाप-दल के साथ उनके हृदय-क्षेत्र में जो घोर संग्राम हो रहा था उसका वर्णन अनेक काव्यों और धर्मग्रन्थों में विशेष-रूप से किया गया है। पाप-सेना के साथ सिद्धार्थ के उस तुमुल युद्ध का वर्णन सुनने से मृतप्राय व्यक्ति के हृदय में भी एक बार अपूर्व बल का संचार हो आता है। कामलोक के अधिप मार (कन्दर्प) ने जब भाँति भाँति के प्रलोभ दिखा कर सिद्धार्थ के चित्त को प्रलुब्ध करना चाहा, तब उन्होंने बड़ी दृढ़ता के साथ कहा—

मेरुःपर्वतराजस्थान तु चलेत् सर्व जगन्नो भवेत्
सर्वे तारकसंघभूमि प्रपतेत् सज्योतिपेन्द्रा नभात्।
सर्वे सत्त्व करेय एकमतयः शुष्येन्महासागरो
नत्वेव द्रुमराज मूलोपगतश्चाल्येत अस्मद्विधः॥

यदि पर्वतों का राजा मेरु अपनी जगह से हट जाय, यदि सारा संसार शून्य में मिल जाय, यदि चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह और तारे टूक टूक होकर आकाश से धरती पर गिर पड़ें, यदि जगत् के सभी जीव एक मत हो जायँ और महा-समुद्र सूख जाय, तो भी इस पेड़ के नीचे से मुझे कोई तिल भर भी हटा नहीं सकता।

इसके अनन्तर पाप के सैन्य दलों ने कामदेव के आदेशानुसार भाँति भाँति के प्रलोभन से सिद्धार्थ को लुभाने की चेष्टा की। किन्तु उनके अटल चित्त के अमित पराक्रम ने उन विद्रोही पाप-दलों की सब चातुरी को व्यर्थ कर दिया। उनकी एक न चली। अन्त में स्वयं मार नाना प्रकार के अस्त्रशस्त्रों से सुसज्जित हो कर सम्मुख युद्ध में अग्रसर हुए। पुरुषसिंह सिद्धार्थ ने बड़ी निर्भीकता के साथ गरज कर कहा—तुम अकेले ही क्यों—

सर्वेयं त्रिसाहस्रमेदिनी यदि मारैः प्रपूर्णा भवेत्
सर्वेषामथ मेरु पर्वतवरः पाणीषु खड्गोभवेत्।
ते मह्यं न समर्थ लोभचालितुं प्रागेव मां घातितुं
कुर्य्याञ्चापि हि विग्रहे स्म वर्म्मितं न दृढ़म्॥

ये तीन सहस्र भूलोक यदि कामदेवों से परिपूर्ण हों और प्रत्येक मार (कामदेव) के हाथ की तलवार पर्वतश्रेष्ठ मेरु की भाँति खूब लम्बी और दृढ़ हो, तो भी अभेद्य कवच से सुरक्षित मेरे शरीर की बात दूर रहे, वे मेरा एक बाल भी बाँका नहीं कर सकेंगे।

कामदेव परास्त हो भाग चले। सिद्धार्थ का चित्त जन्म-जन्मान्तर की वासनाओं से मुक्तिलाभ करके सत्य के विमल प्रकाश से प्रकाशमान हो गया। साधना के द्वारा सिद्धिलाभ करके वे अब "बुद्ध" हुए।

सिद्धार्थ को अब बुद्धत्व प्राप्त होगया। वे सब प्रकार के शोक, मोह, वासना और प्रपञ्च से मुक्त होकर अमृत के अधि-

कारी हुए। जिस विजय का लाभ करके वे अनन्त ज्ञानी बने उस जय का पराभव नहीं होता। इस विजय-गौरव को उन्होंने कैसे प्राप्त किया? ललितविस्तर ग्रंथ में बुद्ध के सिद्धिलाभ का जो अपूर्व आख्यान लिखा है, उसमें बुद्ध ने अपने मुँह से यह बात कही है—

"मैत्री वलेन जित्वा पीतो मेऽस्मिन्नमृतमण्डः।
करुणा वलेन जित्वा पीतो मेऽस्मिन्नमृतमण्डः॥
मुदिता वलेन जित्वा पीतो मेऽस्मिन्नमृतमण्डः।
तमुपेक्ष बलैर्जित्वा पीतो मेऽस्मिन्नमृतमण्डः॥

अर्थात् मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा के बल से जय-लाभ करके मैंने अमृतरस पान किया है।

किसान धान काटते समय एक हाथ से खूब कस कर धान को पकड़ता है और दूसरे हाथ में हँसुआ (धान काटने का औज़ार) लिये रहता है। सिद्धार्थ को भी अमृतरूपी धान हस्तगत करने के लिए ज्ञानरूपी हँसुआ धारण करना पड़ा था। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा के उच्चविचार द्वारा सिद्धार्थ ने जो अमृतरस प्राप्त किया था उस अमृतलाभ के मार्ग में अविद्या भारी बाधक थी। उन्होंने किस उपाय से इस अविद्या को दूर किया था, सुनिए—

"भिन्ना मया ह्यविद्या दीप्तेन ज्ञानकठिनवज्रेण।"

ज्ञानरूपी प्रदीप्त कठिन वज्र से मैंने अविद्या को काट डाला।

जिस दुःख-निवृत्ति के उदार मार्ग की खोज में सिद्धार्थ सब

कुछ तज कर एकाएक घर से निकल पड़े थे, साधन का वह मध्यवर्ती मार्ग अब उन्हें दीख पड़ा। समस्त वासनाओं का विनाश होते ही उनके चित्त को निर्वाण-प्राप्ति हो गई। देह-रूपी घर बनाने वाला जो पुरुष घट घट में रहकर घर बनाता है और जीवों को बारंबार जन्म-मरण का क्लेश देता है उस गृहकर्ता पुरुष को दिव्य दृष्टि से सिद्धार्थ ने देखा। ज्ञानरूपी अग्नि से गृहकारक के घर बनाने की सब सामग्री जलकर ख़ाक हो गई। जब तक ज्ञानाग्नि के द्वारा जीवों के कर्म्मकाण्ड दग्ध नहीं होते तब तक उन्हें जन्म-मरण से छुटकारा नहीं मिलता। अहङ्कार की जड़ उखड़ते ही जगद्व्यापी अनन्त आनन्द के साथ उनका घनिष्ट सम्बन्ध हो गया।

सिद्धार्थ अब वे सिद्धार्थ नहीं रहे। अब उनके मन से तृष्णा दूर हो गई। ज्ञानास्त्र से संशयजाल को काट कर उन्होंने अमृत-पद प्राप्त कर लिया। अब वे "बुद्ध" अर्थात् ज्ञानी हो गये।

बुद्ध ने जो आनन्दमय अमृत प्राप्त किया है, उसका उपभोग वे आप ही अकेले चुपचाप कैसे करेंगे? एक अपने ही लिए नहीं किन्तु सम्पूर्ण मनुष्यों के दुःख का भार सिर पर ले कर वे साधनाक्षेत्र में प्रविष्ट हुए थे। इसलिए वे अपने साधन का फल-स्वरूप अमृत सब मनुष्यों में बाँटे बिना चुप-चाप आप ही उसका आस्वादन कैसे करेंगे?

एक बात का सन्देह उनके मन में फिर उत्पन्न हुआ। वह यह कि जो लोग अहंकाररूपी पींजड़े के भीतर पालतू पक्षी की

भाँति सुख से रहते हैं, खुले आकाश में विचरण करते जिन्हें डर लगता है, उन्हें सहसा अपरिचित मार्ग पर बुलाने से वे क्यों आना चाहेंगे ?

पूर्व जन्मार्जित कर्म और वासना से अविद्या की दीवार खड़ी कर के जो उसी घेरे के भीतर चिरकाल से चक्कर काट रहे हैं उनके मन में यह आशंका बनी रहती है कि इस दीवार के टूट जाने पर उन्हें एक घोर अनन्त अन्धकार में कहीं निमग्न न होना पड़े ।

बुद्ध ने सोचा कि ऐसे अज्ञानी मनुष्यों के निकट बिना विचारे यह नूतन सत्य पथ ले कर उपस्थित होना ठीक नहीं । इस प्रकार मन में नाना प्रकार के वादानुवाद के अनन्तर उन्हें एकाएक स्मरण हो आया कि रामपुत्र रुद्रक के आश्रम से कौण्डिल्य, अश्वजित, भद्रिक, वप्र और महानाभ ये पाँचों सत्यानुरागी युवक किसी समय अमृतरस की प्राप्ति के लिए उनके साथ आये थे । परन्तु तब उनका भाण्डार ख़ाली था। इसलिए वे उनकी भूख को नहीं बुझा सके। यह सच है, कि जब कठिन तपस्या त्याग कर सिद्धार्थ ने साधन के नये मार्ग का अवलम्बन किया था तब उन पर से श्रद्धा उठ जाने के कारण वे पाँचों शिष्य उन्हें छोड़ वहाँ से चले गये थे। तथापि वे सत्यानुरागी थे। बुद्ध अपने सद्धर्म की अमृत वाणी सब के पहले उन शिष्यों को सुनाने के लिए काशी के निकटवर्ती ऋषिपत्तन को गये ।

कौण्डिल्य आदि पाँचो शिष्य सिद्धार्थ के बुद्धत्व लाभ करने की बात सुनकर उस पर पूरा विश्वास न कर सके । उन्होंने सिद्धार्थ के आने की ख़बर पाकर भी निश्चय किया था कि वे सत्यपथभ्रष्ट सिद्धार्थ का गुरुवत् सम्मान न करेंगे । किन्तु बुद्ध जब उनके समीप उपस्थित हुए तब उनकी विमल सौम्य-मूर्ति और तेजःपूर्ण मुखच्छवि देखकर उन शिष्यों के मन का सब सन्देह जाता रहा । उन्होंने बड़ी श्रद्धा और भक्ति से बुद्ध के चरणों में प्रणाम किया ।

भक्तिमान् शिष्यों ने अपने हृदयरूपी घड़े का अज्ञानरूपी आवरण हटाकर गुरु के सामने स्थापित किया । उन लोगों के आग्रह की अधिकता देख बुद्धदेव सद्धर्म्म के अमृतरस से उनके हृदय-पात्र को भरने लगे ।

शिष्यों ने समझ लिया कि—"कल्याणमय मुक्ति का मार्ग न तो भोग विलास ही है और न कठिन तपस्या ही । वह तो इन दोनों के बीच में है । संसार में दुःख ज़रूर है । जन्म में दुःख, जरा, व्याधि और मृत्यु में दुःख, प्रिय वस्तु के विच्छेद में दुःख, अप्रिय पदार्थों के मिलने में दुःख ; ऐसे ही संसारी मनुष्यों के दुःखों की संख्या नहीं है । मनुष्य अपनी शक्ति और अपने पुरुषार्थ से ही, इस दुःखजाल से छुटकारा पा सकता है । वासना का क्षय होने ही से दुःख दूर होते हैं । इसके लिए अष्टाङ्ग साधन करना विधेय है । अर्थात् दृष्टि, संकल्प, वाक्य, व्यवसाय, जीविका, चेष्टा, स्मृति और ध्यान का साधुतापूर्वक

अवलम्बन करना चाहिए। ध्यान के प्रभाव से साधक अपने मन से पापवासना को हटा सकेंगे। चित्त को सुख दुःख के झंझट से छुड़ा कर पवित्रता और शान्ति के बीच विचरण करेंगे। उनके मन में इस बात की भावना सदा बनी रहेगी कि सभी स्त्री पुरुष, सभी आर्य अनार्य, सभी देव मानव, और सभी स्वर्गस्थित एवं नरकस्थित जीव वैर-बाधा से रहित होकर परस्पर मैत्री भाव और सुखी होने का यत्न करें।

माता जैसे प्रिय पुत्र की रक्षा प्राण होम कर भी सदा करती है और उस पर दया रखती है, वैसे ही साधक भी सब जीवों पर अपार प्रेम और दयाभाव रक्खें। सदा सब अवस्थाओं में वे अपने मन को इस प्रकार मैत्रीमय विचार में मग्न रक्खें।

बुद्धदेव ने अपने इस आदि कल्याण, मध्य कल्याण और अन्त कल्याण सद्धर्म की अपूर्व वाणी शिष्यों को सुनाई। उन्होंने इस मङ्गल-धर्म को शिरोधार्य किया।

कुछ ही दिन में बुद्ध के शिष्यों की संख्या साठ हुई और उनका यश चारों ओर फैल गया। बुद्ध के शिष्यदलों के सम्मिलन का नाम "संघ" हुआ। बुद्धदेव ने सारी वर्षाऋतु अपने शिष्यों के साथ विशेषरूप से नये धर्म की आलोचना में बितादी। बरसात बीत जाने पर उन्होंने शिष्यों से कहा—हे भिक्षुओ, तुम लोग सांसारिक मनुष्यों पर दया करके उनके हित के लिए, उनके सुख के लिए, इस नये धर्म की निर्वाणवाणी का देश-देशान्तर में

प्रचार करो। अमृत का स्वाद पाते ही मनुष्य प्रवृत्ति मार्ग की दासता त्याग कर निर्वाण-पथ के यात्री होंगे।

अब बुद्धदेव ने शिष्यों के साथ मगध वङ्ग, कलिङ्ग, उत्कल, कोशल और काशी आदि अनेक प्रदेशों में इस नये सद्धर्म का प्रचार किया। आर्य अनार्य सभी ने उनका धर्म ग्रहण किया।

बुद्ध की वाणी ने भारत के पतित जाति के कान में अभय मन्त्र फूक दिया था। उनके प्रचारित धर्म ने उस पतित जाति को आश्रय दिया था। "थेरगाथा" में एक थेर ने अपने मुँह से अपनी जीवन-कहानी इस प्रकार लिखी है-"नीच कुल में मेरा जन्म हुआ था। मैं अत्यन्त दरिद्र था। मेरा व्यवसाय भी निन्द्य था। लोग मुझे घृणा की दृष्टि से देखते थे परन्तु मैं सिर झुका कर सबका सम्मान करता था। इसके बाद मुझे एक दिन महानगरी मगध में भिक्षुओं के साथ विचरते हुए महापुरुष बुद्ध देव के दर्शन हुए। उनका दर्शन होते ही मेरा चित्त भक्ति से भर गया। मैंने सिर का बोझ हटा कर उनके श्रीचरणों में अपने को समर्पित कर दिया। वे पतितपावन महापुरुष मुझ पर दया करके मेरी रक्षा के लिए ठहर गये। मैंने उनका अनुगामी शिष्य होने की प्रार्थना की। दीनबन्धु करुणा-निधान प्रभु ने तुरन्त मुझको आश्रय दिया।

बुद्ध ने बड़ी उदारता के साथ निःसंकोच होकर आम्रपाली नाम की पतिता वेश्या के घर भोजन किया था। उनके इस व्यवहार का मुख्य तात्पर्य न समझ कर लिच्छविराजगण के

असन्तोष दिखलाने पर भी वे विचलित न हुए। महापुरुष बुद्ध की करुणा के शुभ्रकिरणजाल से पतिता आम्रपाली का चित्त, शतदल कमल की भाँति, खिल गया था और उसके मनोहर सुगन्ध ने समस्त बौद्ध समाज को विस्मित कर दिया था।

सब मनुष्यों के सम्मानास्पद थे महागुरु, जाति-भेद, धन-गौरव और पद-गौरव आदि अनर्थकारी विषयों पर ध्यान नहीं देते थे, जिस से छोटे-बड़े, धनी-दरिद्र, आर्य-अनार्य सभी को उनकी वाणी पर श्रद्धा उपज आती थी। सब लोग उनके मत का आदर करने लगे। उनकी वाणी को जगद्व्यापक जानकर सबके पहले भारत की पतित जाति ने आनन्द से ग्रहण किया। इस उदार धर्म के प्रभाव से उपालि नाम का नाई भी महापुरुष बुद्ध का दहना हाथ हो गया। उसकी शूद्रता जाती रही। वह परम साधु अर्हत् और सद्धर्म का व्याख्याता होकर सर्वत्र सम्मानित हुआ।

बुढ़ापे में बुद्धदेव ने परिव्राजक रूप में भ्रमण करते करते एक बार पावा ग्राम में चुन्द नामक लोहार के घर आतिथ्य ग्रहण किया था। श्रद्धाशील चुन्द की दी हुई रोटी और सूअर का सूखा मांस खाकर वे रक्तातिसार रोग से पीड़ित हुए।

वहाँ से वे अस्वस्थ होकर कुशी नगर के समीप शालकुञ्ज में गये। वहाँ पर इस महापुरुष को, इक्यासी वर्ष की उम्र में, परि-निर्वाण पद प्राप्त हुआ।

रामानन्द

परम भागवत रामानन्द स्वामी मध्ययुग के प्रसिद्ध वैष्णव साधक हैं। श्री सम्प्रदाय के तीसरे गुरु श्रीराघवानन्द की करुणाकिरण के स्पर्श से रामानन्द का हृदय शतदल कमल की भाँति विकशित हो गया था। जिस साम्प्रदायिक साधन मार्ग का अवलम्बन करके महात्मा रामानुज ने धर्म-जीवन विताया था उसी साधन प्रणाली का प्रचार उन्होंने किया था। वहुत पुराने समय से प्रेममूलक वैष्णव-साधना की निर्मल धारा इस भारतवर्ष में प्रवाहित होती आ रही थी। स्वामी रामानुज ने समाज स्थापित करके उक्त साधना की विमल धारा को एक निर्दिष्ट रास्ते से प्रवाहित कर दिया है। उनका प्रतिष्ठित श्री सम्प्रदाय ही सर्वप्रथम वैष्णव समाज में परिगणित हुआ।

श्री भक्तमाल ग्रन्थ में लिखा है कि एक समय भारतीय भक्तिमार्ग में पाण्डित्य का भारी झमेला उठ खड़ा हुआ था। उस झमेले को महात्मा रामानुज ने दूर करके भक्ति मार्ग को निर्विघ्न कर दिया। वङ्ग देश के प्रसिद्ध कवि कृष्णदास के लिखित भक्तमाल ग्रन्थ में लिखा है—

"असद्वाद की घन घटा रही सकल जग छाय।
रामानुज शुभमत पवन ताको दियो उड़ाय॥

शुद्ध भक्ति रवि को उदय प्रगट भयो जग माहिं ।
भई दूर अज्ञानता रह्यो कतहुँ तम नाहिं ॥

रामानुज ने जो इस भक्ति के पुण्य प्रवाह को बहा दिया था, वह सुशीतल रस-धारा शिष्य प्रशिष्य के क्रम से आज तक लाखों भक्ति रस के पिपासु नरनारियों की प्यास बुझा रही है। जगत्पावन रामानन्द स्वामी का हृदय रूपी आलवाल (थाला) इसी अमृत-धारा से परिपूर्ण हो गया था। वैष्णव धर्म का साधना रूपी वृक्ष इन्हीं महात्मा रामानन्द का अवलम्बन कर नाना शाखा प्रशाखाओं में फैल गया और संसार के हित के लिए उसमें मंगल रूप फल फलने लगे। भक्तमाल ग्रंथ में इस महात्मा के पुण्यमय चरित्र का स्वरूप कविता की कई पंक्तियों के द्वारा विशद रूप से चित्रित किया गया है। उसमें लिखा है—

प्रविदित भक्त शिरोमणि भये राघवानन्द ।
सुमति शिष्य जिनके हुए श्रीयुतरामानन्द ॥ १ ॥
जिन गुरु रामानन्द के चेले भये अनेक ।
उनमें कछु हरि भक्त के नाम लिखौं सविवेक ॥ २ ॥
सन्त अनन्तानन्द पुनि ज्ञानी भक्त कबीर ।
पद्मावती सुखासुर श्रीनरहरि मतिधीर ॥ ३ ॥
पीपा परम प्रसिद्ध जग भवानन्द मतिमान ।
राम भक्त रैदास की महिमा अमित बखान ॥ ४ ॥
धना आदि केते भये शिष्य प्रशिष्य उदार ।
जीव त्राण करि जगत में कीन्हें भक्ति प्रचार ॥ ५ ॥

वैष्णव कवि कृष्णदास ने यही कुछ संक्षिप्त वर्णन कर अपने वक्तव्य को समाप्त किया है। इसमें यद्यपि रामानन्द की जीवन-सम्बन्धी किसी विशेष घटना का उल्लेख नहीं पाया जाता तो भी उन परम भक्त के साधन का परिचय स्पष्ट रूप से लक्षित हो जाता है। पूर्वोक्त वर्णन से हमने इतना ज़रूर जान लिया कि आनन्द रूप से जो नित्यमुक्त अलख अगोचर ब्रह्म सारे संसार में व्याप्त हो रहा है, उस रस स्वरूप के साथ परमभक्त रामानन्द नित्य ध्यानद्वारा संयुक्त होकर परमानन्द के अधिकारी हुए थे। उस रस स्वरूप के साथ नित्य विहार के निमित्त उन्होंने एक ऐसी अलौकिक आकर्षणी शक्ति प्राप्त की थी, जिससे असंख्य नर नारियों ने रस लोलुप भ्रमर की भाँति उनके चरण कमलों पर अपने को न्योछावर कर दिया था। इस भक्त-मण्डली की पवित्र पुण्य-प्रभा आज भी देश देशान्तर में प्रदीप्त हो रही है।

एक सम्प्रदाय का अवलम्बन करके इन महासाधक के धर्म-जीवन का आरम्भ हुआ था इसमें संदेह नहीं, किन्तु वह सम्प्रदाय चिरकाल तक इन महात्मा पर अपना अधिकार न जमा सका। थोड़े ही दिनों में साम्प्रदायिक आचार विचार की ओर से उनका मन फिर गया। सम्प्रदाय की चाल ढाल उन्हें व्यर्थ जान पड़ी। उस सम्प्रदाय पर से उनकी श्रद्धा घट गई। रामानुजीय सम्प्रदाय के शिष्य गण खान पान सम्बन्धी छुआ छूत का बहुत विचार रखते थे। किन्तु रामानन्द का प्रौढ़ हृदय

किसी तरह छुआ छूत आदि संकीर्ण विचारों को न मानना चाहता था। भोग लगाते समय देवता की प्रतिमा के सामने रक्खी हुई भोजन-सामग्री पुजारी के अतिरिक्त यदि दूसरा कोई देख ले तो वह अपवित्र क्यों होगी। देवता उसको क्यों न ग्रहण करेंगे? रामानन्द की समझ में यह बात नहीं आती थी। इस आचार-सम्बन्धी विधि-निषेध की बात न मानने के कारण श्री सम्प्रदाय के वैष्णव साधुओं ने इन्हें त्याग दिया था। किन्तु रामानन्द के गुरु ने अपने इस शिष्य की अत्यन्त ओजस्विनी प्रतिभा का परिचय पाया था इसलिए उन्होंने अपने सम्प्रदाय से विलग करते समय उन्हें स्वाधीन भाव से एक नया सम्प्रदाय स्थापित करने की सलाह दी थी।

रामानन्द की स्वतन्त्र आत्मा धर्म के उदार मार्ग में किसी कृत्रिम बाधा को स्वीकार करना नहीं चाहती थी। उनका हृदय इतना प्रौढ़ था, मन ऐसा वासना-शून्य था कि उन्होंने बड़ी सुगमता से जाति कुल का अभिमान त्याग कर पतित पुक्कस (यवन) को भी अपनी गोद में जगह दी थी। रामानन्द ऐसे शक्तिशाली वैष्णव थे कि उनका दरस परस, आलाप और सहवास पतित से पतित को भी एक ही घड़ी में भगवान का परम भक्त बना सकता था। मलयानिल के सुखद स्पर्श से मुरझाये हुए पेड़ जैसे नये पल्लव पाकर सजीव हो उठते हैं वैसे ही परम वैष्णवों के पुण्य-स्पर्श से जिज्ञासु व्यक्तियों की सोई हुई धर्मबुद्धि पल भर में जाग उठती है। कहा जाता है कि दिव्यदृष्टि प्राप्त

करके रामानन्द जब तीर्थ-यात्रा करने निकले थे तब मोची रैदास को रास्ते का कूड़ा करकट दूर फेंकते देखकर उन्होंने कहा था— "देखो रास्ते की केवल धूल और कूड़ा करकट बुहारने ही से तुम्हारा काम न चलेगा। धर्म के मार्ग में जो बहुत से कूड़ा करकट का ढेर सा लग गया है उसको साधन में प्रवृत्त होकर तुम पहले दूर करो।" कबीर जुलाहे को गले लगाकर उन्होंने कहा था—"साधारण कपड़े बुनने से काम न चलेगा। हिन्दू और मुसलमान, दोनों जातियों के धर्म के सारांश रूपी सूत के द्वारा अत्यन्त कौशल से एक अपूर्व वस्त्र बुनकर सर्वसाधारण को पहिराना होगा।

जाति पाँति का विचार न करके सबको एक सूत्र में बाँधने की यह असाधारण उदारता रामानन्द ने कैसे पाई, इसका हाल हमें मालूम नहीं। हाँ, यह अनुमान सहज ही हो सकता है कि एक ईश्वर को मानने वाले मुहम्मद के धर्म ने उनके चरित्र पर विचित्र प्रभाव डाला था। रामानन्द के जन्म से बहुत पूर्व नये धर्म के बल से बलिष्ठ मुसलमानों ने एक हाथ में तलवार और दूसरे में क़ुरान लेकर बारंबार भारतवासियों के राज्य और धर्म पर आक्रमण किया था। मुसलमानों ने अपने बाहुबल से जिस तरह भारत में राज्य फैलाया था, उसी तरह मुहम्मद के प्रचारित नये धर्म-बल से उन्होंने भारतवासियों के मन पर भी प्रभाव फैलाया था। ब्राह्मण्य धर्म की केन्द्रभूमि काशी धाम एक समय इन दोनों धर्म्मों के आन्दोलन का प्रधान

अखाड़ा बन गया था। इन दोनों धर्मों का संघात-स्थल ही महात्मा रामानन्द के साधन का स्थान था। इसी तीर्थक्षेत्र में उन्होंने अपने उदार धर्ममत का निःसंकोच भाव से प्रचार किया था और इसी क्षेत्र में उनके अनुगामी परम साधक कबीरदास ने अकुण्ठित कण्ठ से राम और रहीम की एकता की घोषणा की थी। इस पुण्यतीर्थ में जो उपस्थित थे वे—चाहे हिन्दू हों या मुसलमान—कोई भी इन उदार हृदय साधकों की कृपा से वञ्चित नहीं हुए। विशाल वनस्पति जैसे बीज के कठिन आवरण (परदे) को चीर कर क्रमशः अनन्त आकाश में फैल जाती है, वैसेही रामानन्द का चित्त भी सम्प्रदाय का आवरण हटा कर सब मनुष्यों के विस्तृत संसार में फैल गया था। जिस देवता की कृपा से उनके हृदय का अन्धकार दूर हुआ था वह न किसी सम्प्रदाय का देवता है और न किसी मन्दिर की विशेष मूर्ति है—वे तो सारे संसार और सब मनुष्यों के एक मात्र वरणीय देवता हैं। रामानन्द का हृदय रूपी तम्बूरा जब इस अपूर्व ऊँचे सुर के तार से बाँधा गया था तब एक दिन वे हरिमन्दिर के महोत्सव में बुलाये गये। अपने हृदय रूपी झरने से गिरे हुए प्रेमामृत को पीकर उन्होंने बाह्यज्ञान शून्य होकर एक आगन्तुक से कहा—महाशय, मैं भला कहाँ जाऊँगा, मैं तो अपने आप में सन्तुष्ट हो रहा हूँ, मेरा मन बाहरी संसार में विहार करना नहीं चाहता। मेरा मन एक दम निर्बंध हो पड़ा है। हाँ, एक दिन ऐसा था जब मेरा मन आचार विचार के पंख लगाये

बाहर ही बाहर उड़ता फिरता था; तब मैं खड़ाऊँ पहनता था, चन्दन घिसता था, धूप-दीप-नैवेद्य आदि पूजा की वस्तुओं के संग्रह में उलझा रहता था और मन्दिर मन्दिर में देवता के दर्शनार्थ दौड़ता फिरता था। ऐसी अवस्था में सच्चे गुरु ने मुझ पर दया की। उन्होंने मुझको हृदय-स्थित देवता का दर्शन करा दिया। हे मेरे आराध्य देव ! तुम तो सर्वत्र व्याप रहे हो।

वेद और पुराण को मैंने पत्ते पत्ते, पंक्ति पंक्ति खोज देखा। उन ग्रंथों में कहीं देवता का प्रकाश देखने में नहीं आया। वह तो यहीं विद्यमान है। यदि नहीं है, तो तुम मन्दिर में जाओ। मैंने अपने देवता के निकट अपने को समर्पित कर दिया है। उन्होंने मेरी सारी दुविधाओं को हटा दिया है। रामानन्द का देवता सभी जगह विराजमान है। उसकी दया करोड़ों पापों का विनाश करने वाली है।

साधक नानक ।

नानक

"हे परब्रह्म, तुम्हारे पुण्यमय नाम में मेरा प्रेम हो, तुमसे मेरी यही प्रार्थना है। इसके सिवा मुझे और कुछ न चाहिए। हे विभो, तुम मेरी इस प्रार्थना को पूर्ण करो। नानक, चातक की भांति, तुम्हारे नाम रूपी अमृत का प्यासा है। तुम कृपा करके उसे अपने नामामृत-पान का अधिकार दो।"

"तुम्हारा नाम ही मेरे लिए दीप है, दुःख ही उस दीप का तेल है। दीप के दिव्य तेज ने तेल को सोख लिया है। मैं मृत्यु का अतिक्रम कर चुका हूँ। आग की एक चिनगारी जैसे लकड़ी के ढेर को भस्म कर डालती है वैसे आपका पवित्र नाम लक्ष लक्ष पापों का विनाश कर देता है। आपका नाम ही मेरे लिए काशी, गङ्गा है। उसी में मेरी आत्मा विहार करती है।"

"अध्यात्म ज्ञान ही तुम्हारे भोज्य का मुख्य पदार्थ है। करुणा को उस भोज्य पदार्थ के भाण्डार की रक्षिका बनाओ। जो ध्वनि प्रत्येक मनुष्य के हृदय में ध्वनित हो रही है वही तुम्हें उस अन्न को ग्रहण करने के लिए बुलावे। जिनके हाथ में यह विश्वरूपी सितार बज रहा है उन्हीं को तुम अपना धर्म-गुरु बनाओ।"

"हे सर्वप्रिय, तुम से मेरी भेंट हो; मैं तो तुम्हारी ही प्रतीक्षा से द्वार पर खड़ा हूँ। मेरा मन तुम्हारी ही प्रार्थना कर रहा है। तुम्हीं मेरे अवलम्ब हो। तुमको देख कर मैं सारी वासनाओं से मुक्त हुआ हूँ। मेरे जन्म और मरण का दुःख दूर हो गया। सब पदार्थों में तुम्हारा तेज विद्यमान है। उसके द्वारा तुम्हारी पहचान होती है सही, किन्तु तुम्हारी प्राप्ति केवल प्रेम से ही होती है।"

इन कतिपय वाणियों से भक्त नानक का जैसा परम अनुराग प्रकट हो रहा है, वैसा अनुराग संसार में दुर्लभ है। यह दुर्लभ प्रेम-धन प्राप्त होने पर जिस आध्यात्मिक गंभीर ज्ञान की गवेषणा प्रयोजनीय है, उस गवेषणा-बुद्धि को ही लेकर नानक ने जन्म ग्रहण किया था। उन्होंने सत्य को शीघ्र ही प्राप्त कर लिया था। अंडे के कठिन आवरण को तोड़ कर जैसे बच्चा बाहर निकल कर प्रकाश का अनुभव करता है। वैसे ही नानक के चित्त ने सारी वासनाओं के कठिन आवरण को हटा करके ईश्वर के पवित्र प्रकाश को देखा था।

इन महात्मा के नाम पर जो क़िस्से कहानियाँ प्रसिद्ध हैं उन्हें हम सर्वांशतः सत्य नहीं मान सकते। बहुत दिनों से प्रचलित कोई कोई आख्यान इनके नाम से विशेष प्रसिद्ध हो गये हैं। उन आख्यानों से यह बात साफ़ ज़ाहिर होती है कि नानक ने अपने समकालीन लोगों के मन पर कितना प्रभाव फैलाया था और सांसारिक व्यवहार से उनका चित्त कहाँ तक हट गया था।

लोग कहते हैं कि बाल्यावस्था में ही नानक ने गम्भीर सत्यानुराग का अमोघ परिचय दिया था। नव वर्ष की उम्र में जब कुलगुरु पण्डित हरिदयाल नानक को यज्ञोपवीत पहनाने लगे तब उन्होंने गुरु महाराज को इस यज्ञोपवीत की असारता आश्चर्य रूप से समझा दी। उन्होंने कहा था—"सच्चे जनेऊ का दया ही कपास है, सन्तोष ही सूत है, इन्द्रिय-संयम गाँठ

है; उस सच्चे जनेऊ के पहनने का मन्त्र "सत्य" है। ऐसा जनेऊ ही आत्मा का असली उपवीत है। हे ब्राह्मणदेव, यदि तुम्हारे पास ऐसा उपवीत हो तो मुझे पहना दो। यह जनेऊ न कभी टूटता है और न मैला होता है; न वह आग में जल सकता है और न उसके खो जाने का ही भय है। वह पुरुष धन्य है जो ऐसे जनेऊ को धारण करता है।

एक बार नानकशाह विपाशा नदी में स्नान करने गये थे। वहाँ देखा कि ब्राह्मण पण्डित लोग तर्पण कर रहे हैं। यह देख कर नानक भी बिना किसी प्रयोजन के जल उलीचने लगे। एक पण्डित ने उनसे इसका कारण पूछा तो उत्तर दिया कि नानक अपनी जन्म-भूमि तालवण्डी के खेत में पानी पटा रहा है। पण्डितों ने कहा—"लड़के, तुम बड़े मूर्ख हो। कहाँ तुम्हारी तालवण्डी का खेत और कहाँ तुम पानी सींच रहे हो?" नानक ने कहा—"ज्यादा मूर्ख कौन है, हम या तुम? मेरा यह जल यदि कई कोस पर स्थित मेरे साग के खेत में नहीं पहुँचेगा तो तुम्हारा दिया हुआ यह जल यहाँ से असंख्य कोसों की दूरी पर परलोक-स्थित पितृपुरुषों के पास कैसे पहुँचेगा?" बालक का उत्तर सुन कर पण्डित चुप हो रहे।

नानक की धर्मबुद्धि किसी प्रथा, किसी अभ्यास या किसी देशाचार की संकीर्णता को स्वीकार नहीं कर सकती थी। बचपन में ही उनकी ऐसी विलक्षण बुद्धि जाग उठी थी कि जो परम सत्य है वह किसी लोक-विशेष, सम्प्रदाय-विशेष या ग्रन्थ-विशेष

के साथ सम्बन्ध नहीं रखता। वह परम सत्य प्रत्येक मनुष्य के हृदय रूपी गह्वर में स्थित है। प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि अपना सारा जीवन लगा कर उस सत्यदेव को पाने का यत्न करे। नानक का कथन है कि मनुष्य का जीवन तभी सार्थक है जब वह अपने हृदय-स्थित सत्य को ज्ञान द्वारा प्राप्त करे। तभी उसका नरजन्म सार्थक है।

"मनुष्य महीने दो महीने क्यों, वर्ष के वर्ष शास्त्र पढ़ सकता है। इतना ही क्यों, वह अपने जीवन की अन्तिम घड़ी तक शास्त्राध्ययन कर सकता है। हो सकता है कि वह शास्त्रज्ञान उसके चित्त पर बोझ सा हो रहे। नानक कहते हैं, एकमात्र परमेश्वर का नाम ही सर्वोपरि श्रेष्ठ है, और सब दाम्भिकों का केवल शुष्क वितण्डावाद है।"

नानक तीर्थ-भ्रमण को साधन का अङ्ग नहीं मानते थे और न उन्होंने कभी काषाय वस्त्र धारण किया। वे कहते थे कि जो व्यक्ति जितना अधिक तीर्थ घूमता है वह उतना ही अधिक भ्रम-जाल में फँसता है। जो जितना ही लकदक के साथ गेरुआ कपड़ा पहनता है वह उतना ही अपने शरीर को कष्ट पहुँचाता है।

नानक बचपन से जिस उदार भाव की बात सोचने लगे उस भाव ने उन्हें ऐसा विरक्त कर दिया कि वे अपने काम-काजी पिता कालू वणिक को सुखी करने में असमर्थ हुए। यह देखकर पिता ने उन्हें खेती के काम में लगा दिया। उसमें अकृतकार्य होकर नानक ने कहा—पिताजी, मैंने एक नया खेत हासिल

किया है। वह खेत जोता जा चुका है। उसमें नये नये अंकुर निकल आये हैं। इस समय मुझे सदा सावधान रहना पड़ता है। अभी मुझे बाहर के खेत की ओर ध्यान देने का अवसर नहीं मिलता। और न मैं उस काम का भार ले ही सकता हूँ।

पुत्र के इस धर्मानुराग का तत्व कामकाजी पिता कालू नहीं समझ सके। उन्होंने पुत्र को निकम्मा समझा। किसी तरह नानक के मन को संसारी कामों में न लगते देख पिता कालू ने सुलखना चौनी नाम की एक कुमारी के साथ उनका व्याह कर दिया। व्याह होने के बाद कुछ दिन तक नानक सुलखना से बिलकुल उदास रहे। कालू का मनोरथ सिद्ध न हुआ। व्याह कर देने पर भी नानक के मन की गति न बदली।

ईश्वर के प्रेम-मद ने नानक के मन पर अधिकार कर के उन्हें अलौकिक भाव में मतवाला कर दिया था। प्रेम के प्रथम उफान में वे मौन धारण कर एक स्थान में बैठे रहते थे। उनका शरीर दिन पर दिन सूखता जाता था। नानक की माता त्रिपता के अनुरोध से कालू ने एक वैद्य को बुलाया। नाड़ी देखने के लिए वैद्य को हाथ पकड़ते देख नानक ने कहा—"दूसरे की नाड़ी को तो टटोल रहे हैं किन्तु विषयवासना में भूले हुए वैद्यजी यह नहीं जानते कि स्वयं उनका हृदय कितने दुःखों से भरा है। अगर आप अच्छे चिकित्सक हैं तो पहले यह बतलाइए कि मुझे रोग क्या है, पीछे से औषध की व्यवस्था कीजिए। सचमुच ऐसी दवा की जरूरत है जिससे सब दुःख दूर होकर निरन्तर

सुख का उदय हो। वैद्य महाशय, पहले आप अपने रोग को छुड़ाइए तो मैं जानूँगा कि आप अच्छे वैद्य हैं।" वैद्य के पास संसार रूपी रोग की दवा न थी। वे अपना सा मुँह लेकर वापस चले गये। कालू ने नानक को बारंबार गृहस्थी के काम धंधे में फँसाने के लिए अनेक यत्न किये किन्तु सभी व्यर्थ हुए। एक बार उसने बेटे को नमक का कारबार करने के लिए रुपया दिया था। किन्तु नानक ने वह रुपया भूखे साधुओं की सेवा में ख़र्च कर दिया और एक बार उन्होंने किसी साधु को सोने की अँगूठी और जल का पात्र दे दिया था। इस प्रकार पुत्र को साधु-सेवा में रुपया ख़र्च करते देख कामकाजी बाप ने नाराज़ होकर उन्हें घर से निकाल दिया।

घर से खदेड़े जाने पर नानक अपने बहनोई जयराम के मोदीख़ाने में काम करने लगे। वहाँ एक दिन अकस्मात् एक साधु ने आकर उनसे कहा—ईश्वर ने आप को एक बृहत् कार्य का भार देकर संसार में भेजा है। आपका नाम नानक निरंकारी है। आप परब्रह्म परमेश्वर का यशोगान करेंगे या मोदीख़ाने के काम में जीवन व्यतीत करेंगे ?

यह बात सुन कर नानक अपने जीवन के उच्च उद्देश को सिद्ध करने के लिए फ़क़ीरी भेष धारण कर घर से निकल पड़े। वे भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रदेश और सिंहलद्वीप, मक्का तथा फ़ारस आदि प्रदेशों में घूमे।

नानक जब मक्का गये थे तब एक दिन वे मसजिद की ओर

पैर फैला कर सोये थे। यह देख कर मसजिद के प्रधान मुल्ला ने क्रुद्ध होकर नानक को जगाया और कहा—"तू कैसा बेअदब है। ख़ुदा के घर की ओर पायताना करके सो रहा है?" नानक ने उत्तर दिया—"मुल्ला साहब, मैं बहुत थक गया हूँ। तुम्हारे कहने का मतलब यही न है कि मैं ईश्वर के पवित्र मन्दिर की ओर पैर फैलाने से अपराधी हुआ हूँ। अच्छा तो बतलाओ, ईश्वर का पवित्र मन्दिर किस तरफ़ नहीं है? मैं उसी ओर पैताना करके सोऊँगा।" नानक की बात का कोई जवाब न देकर मुल्ला चुप हो रहा। मुग़ल-सम्राट् (बादशाह) बाबर से भी एक बार नानक की भेंट हुई थी। नानक की साधुता से प्रसन्न होकर बादशाह ने उन्हें कुछ विशेष पुरस्कार देना चाहा था किन्तु नानक ने लेना स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा—जो जगदीश्वर सब जीवों का भरण-पोषण कर रहा है उसी के हाथ से मैं दण्ड या पुरस्कार लूँगा, दूसरे के हाथ से कुछ लेना नहीं चाहता।

बाबा नानक ईश्वर के प्रेम में मन लगा कर उत्साह के साथ सत्यधर्म का प्रचार करने लगे। भगवान् की विश्वव्यापिनी अद्भुत महिमा देख कर वे कृतार्थ हुए थे। सैकड़ों 'छन्दों' और 'शब्दों' द्वारा उन्होंने अपने अनुभूत अद्भुत सत्य का वर्णन किया है। उन्होंने ब्रह्म की जो आरती बनाई है उसका संक्षिप्त अर्थ यही है—हे परब्रह्म परमेश्वर, आकाशरूपी थाल में चन्द्रमा और सूर्य दीप-स्वरूप विराजमान हो रहे हैं।

उसमें तारकागण मोतियों के सदृश शोभायमान हो रहे हैं। सुगन्ध मलयानिल धूप का और पवन पंखे का काम दे रहा है। वन में जो भाँति भाँति के फूल खिले हैं, यही आपकी पूजा के उपकरण हैं। इसी प्रकार आपकी विचित्र आरती हो रही है। अनाहत शब्द ही मङ्गल वाद्य हैं। तुम्हारे सहस्रों नेत्र हैं, और एक भी नहीं है। तुम्हारे सहस्रों रूप हैं और एक भी नहीं। तुम्हारे सहस्रों पद हैं और एक भी नहीं है। तुम्हारे सहस्रों घ्राण (नाक) हैं और एक भी नहीं। हे जगदीश, आप की विचित्र गति है, विचित्र शक्ति है। आपकी महिमा का अन्त कौन पा सकता है?

"अखण्ड ब्रह्माण्ड में जो प्रकाश है वह उसी ब्रह्म की ज्योति है। उसके प्रकाश से सब प्रकाशित है। ज्ञानी गुरु मिल जाने से इस प्रकाश का तत्त्व मालूम होजाता है। साधक जब हृदय से उनकी भक्ति करता है तभी उनकी सच्ची आरती होती है। मेरा मन रूपी भौंरा भगवान् के चरण-कमल के पावन पराग से मुग्ध हो रहा है। मैं दिन-रात उसी अमृत रस का भूखा हूँ। प्रभो, नानक चातक की तरह प्यासा है। कृपारूपी जल से उसकी तृषा शान्त करो जिसमें वह तुम्हारे चरण-कमलों के निकट सदा बना रहे।"

इस स्वरूप का ध्यान करते करते परमभक्त नानक का हृदय प्रेम से सरस हो गया था। सीधे सादे बच्चे की भाँति उनका हृदय कोमल था। देश-भ्रमण करते समय रास्ते में

लड़कों से भेंट होजाने पर वे उनके साथ मिलकर, उन्हीं की तरह मिट्टी लेकर, खेलते थे।

संन्यासी के रूप में जब नानक धर्म-प्रचार करने गये थे तब एक दिन विपाशा नदी के तट पर कोड़ीराय नामक एक धनिक से उनकी भेंट हुई। नानक के अलौकिक भाव से मुग्ध होकर कोड़ीराय ने उनके चरणों में आत्म-समर्पण कर दिया। उसने विपाशा के किनारे नानक के नाम से एक शहर बसा दिया था। नानक की आज्ञा के अनुसार उस नगर का नाम कोड़ीराय ने "कर्तारपुर" रक्खा था। यह नगर सिक्खों का प्रधान तीर्थस्थान है। "साहाजाज" अर्थात् नानक के वंशधर अब भी यहाँ रहते हैं। नाना देशों में घूम फिर कर नानक अपने घर लौट आये। फ़क़ीर का वेष त्याग कर अब उन्होंने गृहस्थ का वेष धारण किया। उन्होंने अपना यह मत प्रकट किया——"क़ुरान, पुराण या किसी शास्त्र में भगवान् नहीं हैं। शास्त्र बनानेवालों ने उन शास्त्रों में केवल अपना पाण्डित्य दिखलाया है। शास्त्र भूलों से ख़ाली नहीं हैं। भगवान् को प्राप्त करने के लिए गृहत्यागी संन्यासी होने की आवश्यकता नहीं। ईश्वर हम लोगों के जीवन के साथ मिले जुले हैं। पहाड़ की गुफ़ा में रहनेवाले योगी और महलों में रहनेवाले धनवान् दोनों ही उनकी दृष्टि में तुल्य हैं। कौन किस जाति का है, भगवान् कभी इसकी खोज नहीं करते। वे तो यही देखते हैं कि संसार में आकर किसने क्या काम किया।" नानक ने हिन्दू

समाज का कुसंस्कार और मूर्त्तिपूजा तथा मुसलमानों की पर-धर्मनिन्दा दूर करने की वड़ी चेष्टा की थी।

गुरु नानक ने यद्यपि कुरान और वेद को भ्रम-पूर्ण वतलाया था तथापि उसे एकदम अस्वीकार नहीं किया था। दूसरों के धर्म से विद्वेष रखने और गोवध करने के कारण मुसलमानों का नानक ने तीव्र प्रतिवाद किया था।

नानक जब वगदाद में थे तब एक दिन उन्होंने मुसलमानों की अजाँ को वदल कर अन्यान्य सभी मत के उपासकों को एकही पवित्र स्थान में उपासना के निमित्त वुलाया था। इस बात पर मसजिद के प्रधान मुल्ला के साथ उनकी खूब वहस हुई थी। उन्होंने मुल्ला से कहा था — जो भूलोक से लेकर सत्यलोक पर्यन्त समस्त ब्रह्माण्ड में सदा एक रूप से विराजमान है, एक मात्र उसी अद्वितीय परमेश्वर को मैं मानता हूँ। किसी सम्प्रदाय के देवता को मैं नहीं मानता।

नानक की एक बात से उनके धर्ममत की विशेषता जानी जाती है। उन्होंने कहा है — "लाखों मुहम्मद, करोड़ों ब्रह्मा विष्णु और हज़ारों राम उस महान् ब्रह्म के मन्दिर के फाटक पर खड़े हैं। शरीर-धारी जितने हैं सब अनित्य हैं। ब्रह्महो एक मात्र अविनाशी है। उस ब्रह्म का गुणगान सभी करते हैं, किन्तु अपना अपना मत लेकर परस्पर विरोध करने में तनिक भी नहीं लजाते।" इससे प्रकट है कि वे अविद्या के द्वारा पराभूत होकर ही ऐसा करते हैं। वास्तव में वही सच्चे हिन्दू हैं जो न्याय-

परायण हैं और वही सच्चे मुसलमान हैं जिनका दिल साफ़ है। बाबा नानक शाह की सार्वजनिक साधना ने हिन्दू और मुसलमान दोनों मतों के परस्पर विरोधज्ञान को दूर कर एक सूत्र में बाँधने का उपक्रम किया था। "ईश्वर एक है, वही सब का पिता है, मनुष्य भाई भाई हैं।" इसी सत्य का वे प्रचार करते थे। वे अपने को एक अनित्य देहधारी पापी मनुष्य समझते थे। उन्होंने सर्वशक्तिमान्, सच्चिदानन्द, स्वप्रकाश परब्रह्म के प्रति अचल विश्वास रखनाही मुक्ति का एकमात्र उपाय बतलाया है। मूल ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग में एक जगह उन्होंने लिखा है—"वेद, पुराण या कुरान पढ़कर मनुष्य सामयिक आनन्द प्राप्त कर सकता है, किन्तु ईश्वर को प्राप्त किये बिना वह कभी मुक्ति का भागी नहीं हो सकता।" किसी तरह की करामात दिखा कर वे कभी किसी को आश्चर्यान्वित नहीं करते थे। जब कोई उनसे कुछ करामात दिखाने को कहता था तब वे कहते थे—मैं केवल पवित्र धर्म की बात जानता हूँ और कुछ नहीं जानता। एक मात्र ईश्वर सत्य है, और सभी पदार्थ अनित्य हैं।

जीवन के शेष समय में बाबा नानक सपरिवार विपाशा नदी के तट पर कर्तारपुर में रहने लगे। वहाँ विविध स्थानों से अनेक श्रेणी के लोग आकर उनके शिष्य होने लगे। उनकी धर्मनिष्ठा, मधुर भाषण, सीधी सादी चाल और सुजनता सबको मोह लेती थी। वे हिन्दू को उपदेश देते समय हिन्दू-शास्त्र की बात बोलते थे और कुरान का प्रमाण देकर मुसलमान

को उपदेश देते थे। इस प्रकार भक्तजनों के समागम से नानक का निवास-स्थान कर्त्तारपुर परम तीर्थ हो गया। झुण्ड के झुण्ड लोग वहाँ आकर धर्म और पुण्य-लाभ करने लगे।

नानक के अनुगत शिष्यों में मर्दाना और बालसिन्धु का नाम विशेष रूप से ख्यात हुआ। तुङ्गग्राम का रामदास नामक एक ग्वाला नानक का साथी था। गुरु के उग्रभाव और अद्भुत शक्ति से मुग्ध होकर वह सदा के लिए उनका चेला बन गया। रामदास की उम्र बहुत बड़ी थी। इसलिए सब लोग उसे "बुड्ढा" कहते थे।

नानक के साथियों में लहना ने धर्मसाधन में विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त की। श्रद्धा, भक्ति और धर्माचरण में वे सब से बड़े थे। इसलिए नानक उन्हें पुत्र से भी बढ़कर प्यार करते थे। परलोक-गमन के पूर्व वे लहना को "गुरु अङ्गद" नाम देकर गुरु की गद्दी का अधिकार दे गये।

लहना जाति का क्षत्रिय था। किसी पर्व में देवदर्शन के लिए काँगड़ा जाते समय उसे रास्ते में गुरु नानक का दर्शन हुआ था। गुरु नानक के मुँह से सुमधुर धर्मोपदेश सुन कर वह उनका शिष्य हो गया।

महात्मा नानक धर्मप्रचार करते करते १५३९ ई० को आश्विन मास की दशमी को, ७१ वर्ष की उम्र में, मानवलीला संवरण कर परलोकवासी हुए।

साधक कबीर ।

कबीर
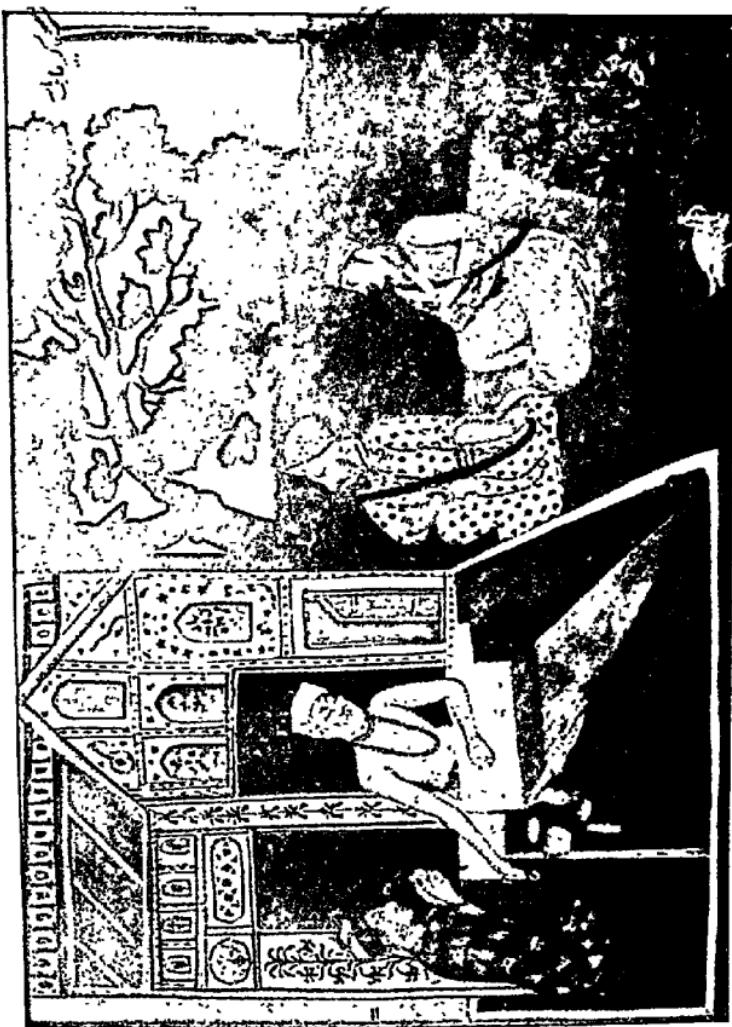
महात्मा कबीर का जीवन हिन्दुओं और मुसलमानों के साधन का पवित्र संगमतीर्थ था। असाधारण प्रतिभा और अध्यात्मज्ञान के प्रभाव से उन्होंने दोनों धर्मों के सारभूत सत्य को सहज ही प्राप्त कर लिया था। वे न हिन्दू थे न मुसलमान। उनका मत ही निराला था। फिर भी हिन्दू और मुसलमान दोनों ने उन्हें अपने अपने दल में खींचने की चेष्टा की थी। भक्ति के जिस उदार मार्ग में सम्प्रदाय-सम्बन्धी भेदभाव को भूल कर पक्षपात-रहित हो हिन्दू और मुसलमान दोनों एक ही माता के दो पुत्रों की भाँति परस्पर भ्रातृभाव रख कर प्रेमपूर्वक खड़े हो सकते हैं, कबीर ने उसी खुले सदर रास्ते में आने के लिए सब को बुलाया था।

जो राम हिन्दूमात्र के सर्वस्व हैं, जो रहीम मुसलमानों के जीवन-धन हैं, उन राम और रहीम से भी आगे बढ़ कर कबीर ने सबको सत्य ज्ञान प्राप्त करने का आदेश किया था। सत्य सनातन रूप देवता सत्य के भीतर ही विहार करता है। उसका आविर्भाव होते ही अविद्या दूर हो जाती है। कबीर ने हिन्दुओं का हिन्दूपन और मुसलमानों का पाखण्ड देख मन में दुखी हो कहा था—

"सन्तो देखत जग बौराना।

साँच कहौं तो मारन धावै झूठे जग पतियाना ।
नेमी देखे धरमी देखे प्रात करहिं असनाना ।
आतम मारि पखानहिं पूजैं उनमें कछू न ज्ञाना ।
बहुतक देखे पीर औलिया पढ़ें किताब कुराना ।
कै मुरीद तदवीर बतावैं उनमें उहै गिआना ।
आसन मारि डिंभ धरि बैठे मन में बहुत गुमाना ।
पीतर पाथर पूजन लागे तीरथ गरब भुलाना ।
माला पहिरे टोपी दीन्हें छाप तिलक अनुमाना ।
साखी सबदै गावत भूले आतम खबरि न जाना ।
कह हिन्दू मोहि राम पियारा तुरुक कहै रहिमाना ।
आपस मैं दोउ लरि लरि मूये मरम न काहू जाना ।
घर घर मन्त्र जु देत फिरत हैं महिमा के अभिमाना ।
गुरवा सहित शिष्य सब बूड़े अन्तकाल पछताना ।
कहत कबीर सुनो हो सन्तो ई सब भरम भुलाना ।
केतिक कहौं कहा नहिं मानै आपहिं आप समाना ॥"

"सन्तो राह दोऊ हम दीठा ।
हिन्दू तुरुक हटा नहिं मानै स्वाद सबन को मीठा ॥
हिन्दू बरत एकादसि साधै दूध-सिंघाड़ा सेती ।
अन को त्यागै मन नहिं हटकै पारन करै सगोती ॥
रोज़ा तुरक नमाज़ गुज़ारै बिसमिल बाँग पुकारै ।
उनकी भिस्त कहाँ ते हुइ है साँझै मुरगी मारै ॥
हिन्दू दया मेहर को तुरकन दोनों घट सों त्यागी ।

वैं हलाल वैं झटका मारैं आगि दुनौं घर लागी ॥
हिन्दू तुरुक की एक राह है सदगुरु यहै बताई।
कहहि कबीर सुनो हो सन्तो राम न कहेउ खुदाई ॥"
"जा घट प्रेम न संचरै सो घट जान मसान।
जैसे खाल लुहार की साँस लेत बिनु प्रान ॥"

जिसके हृदय में दया नहीं, प्रेम का संचार नहीं; जो जाति, कुल, आचार-विचार के भ्रमजाल में पड़ अहङ्कार में चूर हो रहा है वह अपने चारों ओर अभिमान की दीवार खड़ी कर अपने को बहुत बड़ा मानता है। कबीरदास प्रेम-साधन के द्वारा ऐसे ऊँचे स्थान में पहुँच गये थे, जहाँ साम्प्रदायिक भेद बुद्धि को प्रवेश का अधिकार ही नहीं था। वहाँ पहुँच कर उन्होंने कहा है—मेरी वाणी ही मेरी जाति है; मेरे हृदय का देवता ही मेरा कुल है, साधु महात्मा ही मेरे परिवार हैं।

ऐसी अवस्था प्राप्त करने के लिए कबीर को अनेक प्रयत्न करने पड़े थे। बड़े बड़े विघ्नों का सामना करना पड़ा था, इसमें सन्देह नहीं। कबीर की साधना में बाधा डालने के लिए कितने ही शत्रु उपस्थित हुए थे। कबीर ने तुमुल युद्ध कर उन शत्रुओं पर विजय प्राप्त की। कबीर की वाणी में उस युद्ध की बात इस प्रकार लिखी है—हे वीर भ्राताओ, तलवार ले कर युद्ध में प्रवेश करो, शत्रु से मत डरो। बाहु-बल से शत्रु को हरा कर प्रभु के दरबार में हाज़िर हो सिर नवाओ। जो सच्चा वीर है वह रण-भूमि से कभी नहीं भागता। जो पीठ दिखाता है

वह वीर नहीं । काम, क्रोध, मद, मोह और लोभ के साथ इस शरीर-क्षेत्र में घोर युद्ध हो रहा है । शील और सन्तोष का वहाँ राज्य है । नामरूपी तलवार चल रही है । कबीर दास कहते हैं, अगर कोई वीर युद्ध करने को आगे बढ़े तो उन कायर शत्रुओं का दल एक पल में तितर बितर हो भाग जाय । साधक का समर बड़ा ही भयङ्कर होता है, सत्य साधक कभी पीछे नहीं हटता । सती और वीर से भी साधक का व्रत कठिन है । वीर का संग्राम दो एक पहर तक और सती का युद्ध दो चार मिनट तक होता है परन्तु साधक का संग्राम दिन रात होता रहता है । जब तक यह देह है तब तक युद्ध का अन्त नहीं ।

यह सब देशों के सर्वकालीन साधकों के संग्राम की बात है । कबीर को जैसे काम क्रोध आदि भीतरी शत्रुओं के साथ मानसिक युद्ध करना पड़ा था वैसेही बाहर भी अनेक विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ा था ।

काशी के समीप लहरतारा नामक एक छोटी सी बस्ती में एक जुलाहे के घर कबीर का जन्म हुआ था । कोई कोई कहते हैं कि वे एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे । जन्म होते ही विधवा ने समाज के भय से बेटे को चुपचाप फेंक दिया था। बच्चे को जीवित अवस्था में देख एक जुलाहे ने उसे अपने घर ले जा कर पाला पोसा । हिन्दू शिष्यों ने कबीर को हिन्दू दल में मिला लेने के लिए इस आख्यान की कल्पना कर ली हो तो कोई आश्चर्य नहीं । जिस मुसलमानिन माता की गोद में कबीर पले

थे उस माता नीमा ने भी इनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। मुसलमान के घर जन्म लेकर भी बचपन से ही कबीर की हिन्दू-धर्म और हिन्दू साधु-संन्यासियों पर स्वाभाविक श्रद्धा और भक्ति थी। वे सब प्रकार साधु-सेवा कर के बहुत प्रसन्न होते थे। उनकी यह ख़ुशी माता नीमा को बरदाश्त न होती थी। वह इस काम के करने के लिए बेटे को फटकारती थी।

लड़कपन में ही कबीर के मन में धर्मज्ञान अंकुरित हुआ था। हिन्दुओं के प्रसिद्ध तीर्थ काशीधाम के अति समीप रहने के कारण या किसी और ही कारण से हिन्दूधर्म ने उनके चित्त और चरित्र पर अद्‌भुत प्रभाव डाला था। बचपन में वे बड़ी श्रद्धा से भगवान् का नाम लेते थे। इसलिए उनके साथी मुसलमानों के लड़के उन्हें काफ़िर कह कर उनकी हँसी उड़ाते थे। इतने पर भी कबीर साहब कभी धैर्य से विचलित न होते थे। वे अपने साथियों से कहते थे—जो बिना कारण दूसरे को सताता है, लोगों को ठगने के लिए झूठमूठ धर्म का ढोंग रचता है, चोरी मद्यपान और जीवहिंसा करता है, वही पापी और विधर्म्मी है।

कबीर के बाल्यकाल की जीवन-सम्बन्धी जो दो चार बातें सुनी जाती हैं उससे जान पड़ता है कि उस समय के प्रचलित मुसलमानी धर्म पर उनकी श्रद्धा न थी। परन्तु यह भी अनुमान हो सकता है कि स्वाभाविक धर्म-बुद्धि की प्रेरणा से "हिन्दुओं के उपास्य राम" को उन्होंने अपने मत में ले आने के लिए ही पहले हिन्दूधर्म ग्रहण किया था। उनका यह आच-

रण उनके जाति-भाइयों को—विशेष कर उनकी माँ नीमा को—बहुत बुरा लगता था। उसका वर्णन कबीर के ही मुँह से सुनिए—

"मुसि मुसि रोवै कबीर की माय। ए बालक कैसे जीवहिं रघुराय॥
तनना बुनना सब तज्यो है कबीर। हरि का नाम लिख लियो शरीर॥
जब लग तागा बाहउँ बेही। तब लग बिसरै राम सनेही॥
ओछी मति मेरी जाति जुलाहा। हरि का नाम लह्यो मैं लाहा॥
कहत कबीर सुनहु मेरी माई। हमरा इनका दाता रघुराई॥"

श्रीभक्तमाल ग्रंथ में लिखा है कि महात्मा रामानन्द स्वामी के मुँह से निकला हुआ मधुर "रामनाम" जब से कबीर के कान में पड़ा तब से उसे भगवत-प्रेम का नशा चढ़ गया। वह उस नाम को लेकर पागल सा हो गया। रामनाम को महामन्त्र जान कर उसने उसे बड़े यत्न से हृदय में छिपा रक्खा। घर के सभी काम धन्धे छोड़ कर उसने कंठी-माला धारण कर ली। दिन-रात वह उसी महामन्त्र को जपने लगा। यह देख, उसके माँ-बाप, बन्धु-बान्धव सभी उसका तिरस्कार करते और उसे धिक्कार देकर कहते थे कि तूने अपना ईमान छोड़ कर हिन्दू-धर्म ग्रहण किया। किसने तुझे ऐसा काम करने की शिक्षा दी।

कबीर ने पहले तिलक-माला धारण की थी सही, किन्तु साधन पथ में अग्रसर होकर फिर उन्होंने कहा है—"माला फेरत युग गया गया न मन का फेर। कर का मन का छाड़ के मन का मनका फेर।" अर्थात् जब तक मन का माला न फेरोगे

तब तक हाथ की माला फेरने से कुछ न होगा। फिर उन्होंने कहा है—ऐ ख़ुदा के बन्दे, तुम कितनी ही माला फेरो, तिलक लगाओ, लम्बी जटाएँ बढ़ाओ, किन्तु उससे क्या होगा; तुम्हारे हृदय में तो पैनी छुरी हमेशा मौजूद रहती है। जब तक तुम उसे दूर न करोगे, ईश्वर कदापि तुम्हें न मिलेंगे। साधन की कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए साधक को अपने हृदय की मलिनता दूर करनी चाहिए। हृदय जब आईने की तरह साफ़ झलकता है तभी ईश्वर दिखाई देते हैं, अन्यथा नहीं। कबीर कहते हैं—"जो मनुष्य अपने मन से अहंभाव को दूर करता है वही साधन की परीक्षा में उत्तीर्ण होता है।" व्रत-पालन और योग-साधन यद्यपि चित्त-वृत्ति की निवृत्ति में कुछ सहायता पहुँचाता है तथापि इसके द्वारा क्लेशवृद्धि के सिवा कुछ हाथ नहीं आता। चित्त की जब भ्रान्ति दूर होती है, हृदय से मान-अभिमान का भाव निकल जाता है, तब निःसन्देह कर्म का बन्धन ढीला हो जाता है।

कबीर के हृदय में जो देवता विहार करते थे उन्हीं को वे "राम" कहते थे। उन्होंने कहा है—वह अद्वितीय प्रभु राम ही मेरे सब सुख का आकर (ख़ज़ाना) है। मेरी आत्मा ने उसीके द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त की है। गुरु की कृपा से मैंने अध्यात्म-ज्ञान और ब्रह्म के विमल प्रकाश को प्राप्त किया है। मैं उसी अद्वितीय परमेश्वर का मनन करता हूँ, उसीकी उपासना करता हूँ, उसी को भजता हूँ। मेरे हृदय की गाँठ और सभी भय

नष्ट हो गये हैं । मेरी आत्मा अपने असली स्वरूप को पहचान कर आनन्द-रस में लीन रहती है । मेरा मन आनन्द से उमँग कर ईश्वर के चरणों में प्रणत हो रहा है । ईश्वर-चिन्तन के सिवा मेरे मन में और कोई चिन्ता ठहरने नहीं पाती ।

इस आनन्द-रूप अद्वितीय देवता को प्राप्त करने के लिए कवीर ने साधना के प्रारम्भ में वाहरी अनुष्ठान स्वीकार किया था। किन्तु उस अनुष्ठान में वे वहुत दिनों तक नहीं उलझे । उन्होंने स्वयं इस वात की घोषणा की है—"तीरथ गये ते वहि मुये, जूड़े पानी न्हाय । कह कवीर सन्तो सुनो, राच्छस ह्वै पछताय ॥ मैंने तीर्थ में स्नान करके इसे देख लिया है । प्रतिमा तो जड़ पदार्थ है। कारीगर के हाथ की वनी हुई मूर्त्ति है । मैंने कई वार पुकार कर देखा है कि वह पुकारने से कुछ नहीं बोलती । पुराण-क़ुरान में केवल कल्पित वातें हैं । मैंने परदा उठा कर देख लिया, उसके भीतर कुछ नहीं है । कवीर केवल अनुभव की वात कहता है । वह भली भाँति जानता है कि क्या सत्य है और क्या असत्य ।" फिर उन्होंने दूसरी जगह कहा है–"खुदा अगर मसजिद के भीतर ही छिपा है तो उसके चारों तरफ़ जो इतना वड़ा संसार है वह किसका है! हिन्दू कहते हैं कि भगवान् मूर्त्ति में हैं । मैंने दोनों सम्प्रदायों में कहीं भी सत्य स्वरूप को नहीं पाया । हे परमेश्वर, तुम चाहे अल्लाह हो या राम, मैं तुम्हारे नाम का अवलम्बन करके ही जीवित हूँ ।" कवीर ने भगवान् का आश्रय ग्रहण करके सब प्रकार अपने को उनके चरणों में

अर्पित कर दिया था। उन्होंने कहा है—प्रियतम प्यारे की बात ही मुझे अच्छी लगती है और अनेक प्रकार के सान्त्वना-वाक्यों से मेरा मन स्थिर नहीं होता।

जगदीश्वर जब प्रेमिक कबीर के निकट प्रत्यक्ष दीखने लगे तब कबीर ने कहा—स्वामी के साथ जब से मेरा मिलन हुआ है तब से प्रेमलीला की समाप्ति होने की नहीं। मैं आँखें नहीं मूँदता, कान बन्द नहीं करता, देह को कोई कष्ट नहीं देता, मैं आँख पसार कर हँसते हँसते देखता हूँ तो सर्वत्र वही सुन्दर रूप दिखाई देता है। उन्हीं का नाम लेता हूँ, उन्हीं का स्मरण करता हूँ। मैं जो कुछ करता हूँ वही उनकी पूजा है। मेरे लिए उदय और अस्त दोनों बराबर हैं। मेरा द्वन्द्व-भाव मिट गया है। मैं जहाँ जाता हूँ वहीं उनकी प्रदक्षिणा करता हूँ। मेरे सभी काम उनकी सेवा के लिए हैं। जब सोता हूँ तब उनके चरणों में प्रणत होकर के सोता हूँ। उस उपास्य देवता के सिवा मेरे और कोई पूजनीय देव नहीं। मेरी जीभ ने खोटी बात बोलना त्याग दिया है। वह दिन-रात उन्हीं का गुण गाती है। मैं उठते-बैठते चलते-फिरते कभी अपने इष्टदेव को नहीं भूलता।

यह जो अलभ्य लाभ है, जिसकी अपेक्षा और कोई श्रेष्ठ लाभ नहीं, उसे पाकर निरक्षर कबीर ने सब कुछ पा लिया। अशेष शास्त्रों के अध्यापकों के लिए जो विषय दुर्ज्ञेय है, वह जुलाहे कबीर को प्राप्त हो गया। उन्होंने अपार का पार पाकर अपूर्व भाव से उसका वर्णन किया है—मैंने अनन्त आकाश में

अपना आसन बिछाया है, अगम्य का प्याला पिया है। रहस्य की बात जान कर योग-साधन के तत्त्व को मैंने प्राप्त कर लिया है। मैं बिना मार्ग के ही उस दुःखहीन अगम्य पुर में जा पहुँचा हूँ। उस जगदेव की दया मुझे सहज ही प्राप्त हो गई। जिसे सब लोग अगम्य और अगाध बतलाते हैं उसे मैंने ध्यान में देख लिया। इस छोटी सी देह के भीतर सारे ब्रह्माण्ड का तमाशा मैंने देखा है। संसार का भ्रम मेरे अन्तःकरण से छूट गया है। बाहर भीतर एक ही तार बज रहा है। सीमा के भीतर असीम ब्रह्म पूर्ण रूप से विराजमान है। इस अपूर्व दृश्य को देख कर मैं मत्त हो गया हूँ। हे ज्योतिर्मय, तुम्हारी ज्योति सारे संसार में व्याप रही है। ज्ञान की दीयट पर प्रेम का दीप जल रहा है। निरञ्जन ब्रह्म अनेक रूपों में प्रतिभासित होता है, परन्तु उस निराकार, निर्गुण, अविनाशी का रूप अपार, अतल है। आनन्द ही उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग हैं। वह अलख अगोचर ब्रह्मानन्द कितना बड़ा है, यह किसी के अनुमान में भी नहीं आ सकता। वह अनन्तानन्त है। आनन्द ही उसकी नाट्यशाला है, उसीमें वह नृत्य कर रहा है। उसके रूप की तरङ्ग लहरा रही है। उसकी अविराम गति किसी प्रकार रुक नहीं सकती। कोई जगह ऐसी नहीं जहाँ उस ब्रह्म की सत्ता विद्यमान न हो। चेतन अचेतन सभी पदार्थों में वह व्याप्त है। उस परब्रह्म का न आदि है न अन्त। वह सम्पूर्ण रूप से अक्षय आनन्द के भीतर छिपा है। उस योगेश्वर को मैं ज्ञान की दृष्टि से देखता हूँ। मेरी आत्मा

योगेश्वर ब्रह्म के साथ मिल कर एक हो गई है। उस अलक्ष्य पुरुष का अचल धाम है। शीतल उसकी छाया है। उसी में मेरा मन मत्त होकर नृत्य करता है। प्रेम की तन्त्री दिन-रात बज रही है। सभी महात्मा उसे ध्यान लगाकर सुन रहे हैं। आकाश में ग्रह-तारे नाच रहे हैं। ससागरा पृथ्वी नाच रही है। रोने-हँसने का स्वाँग ले कर सभी लोग नाच रहे हैं। ओह! तुम छापा तिलक लगाकर अहङ्कार में उन्मत्त हो जगत् के इस अलौकिक दृश्य के आनन्द से क्यों दूर पड़े हो! यह देखो, सहस्र कला से मेरा मन नाच रहा है, सृष्टि-कर्त्ता महापुरुष इसी से तृप्त हो रहा है।

गन्ध जैसे अपने को हवा में मिला देता है, जल की धारा जैसे अपने को अतल समुद्र में मिला देती है, सीमान्तर्गत जीव भी अपने को वैसेही असीम ब्रह्म में मिला सकता है। इस स्वाभाविक मिलन के बाद फिर कभी विच्छेद होने की संभावना नहीं। दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। इस प्रकार योग-युक्त हो कर ही कबीर ने कहा है—"तुम्हारे हमारे बीच जो प्रेम का सूत्र बँधा है वह किसी प्रकार टूट नहीं सकता। कमल-पत्र जैसे जल में रहता है उसी तरह तुम भी मेरे हृदय-सरोवर में विराजमान हो। तुम्हीं मेरे प्रेरक हो। मैं तुम्हारा आज्ञाकारी दास हूँ। जैसे चकोर सारी रात चन्द्रमा की ओर देखता रहता है वैसे मेरी दृष्टि भी सदा तुम्हारी ओर लगी रहती है। आदि से अन्त तक हमारे तुम्हारे बीच प्रेम का सम्बन्ध

है; उस सम्बन्ध का त्याग अब क्योंकर हो सकता है?" इस मिलन की घनिष्टता का अनुभव करके उन्होंने कहा है—जो जिसके जी में आवे, कहे। मैं जिसमें बद्ध हुआ हूँ, उसी में बद्ध रहूँगा। प्रेम-कमल में मेरा मन रूपी भौंरा फँस गया है। वह अब नहीं निकल सकता। मैंने प्रियतम के प्रेम-कटाक्ष का सुख पाया है। संसार के झमेले से मैं अलग हो गया हूँ। प्रियतम की वाणी ने मुझे सांसारिक जंजाल से छुड़ाया है। कबीर प्रियतम के साथ जन्म-मरण का दुःख भूल कर प्रेम-हिंडोले पर झूल रहा है।

कबीर अपने प्रियतम महापुरुष के प्रेम-समुद्र में डूबकर जन्म-मृत्यु को पार कर गये थे। कौन बता सकता है कि उस प्रेम-समुद्र में मग्न होकर वे कहाँ गये? उस अतल अगाध समुद्र में निमज्जित होकर कबीर ने बाबा गोरखनाथ से कहा था—ब्रह्मा ने जब मुकुट धारण नहीं किया था, विष्णु ने जब राज-तिलक नहीं प्राप्त किया था, शिवशक्ति ने जब जन्म भी नहीं लिया था, तभी मैंने योग-शिक्षा ग्रहण की।

'काशी में हम प्रगट भये हैं रामानन्द चिताये।
समरथ का परवाना लाये हंस उबारन आये॥'

कबीर ने अपने मिलन का अपूर्व आनन्द धर्मदास साधु को स्पष्ट रूप से सुनाया था—प्रियतम मेरे घर में आये हैं, मेरा घर चन्दन और अगर की सुगन्ध से सुवासित हो गया है। मेरे घर का आँगन फूलों से ढँक गया है। मेरे हृदय के विमल

सिंहासन पर मेरे प्रियतम बैठे हैं; प्रेम और वैराग्य रूपी नेत्रों से मैंने उनको देखा है। प्रियतम के प्रेमबल से ही यह दर्शन मिला है। जी भर कर देख लिया। मेरे घर और आँगन में आज आनन्द का उत्सव हो रहा है। प्रेम आज पूर्णता को प्राप्त हुआ। दुर्लभ प्रेमामृत की धारा आज अविरल गति से वह रही है, आज के आनन्द का वर्णन नहीं हो सकता। प्रियतम मेरे पास हैं।

इस प्रकार प्रेमस्वरूप के प्रेमानन्द में निमग्न हो, उन्हीं की प्रसन्न दृष्टि के सम्मुख रहकर, ये महात्मा प्रतिदिन संसार का छोटा बड़ा कर्त्तव्य करते थे। वे धर्मसाधन के लिए घर छोड़कर जंगल में नहीं गये। जाने की ज़रूरत भी नहीं समझी। गृहस्थाश्रम में रहकर ही उन्होंने संसार-विमुखता का परिचय दिया था। वे ब्रह्मनिष्ठ गृही थे, इसलिए संसार उनकी साधना में अनुकूल ही था। पदार्थमात्र के स्नेह-मूल में वे उस रसस्वरूप की छाया देखते थे, इसलिए पारिवारिक सम्बन्ध उनके लिए मधुरतर हो गया था।

कबीर साहब कभी गृहत्यागी फ़क़ीर की भाँति भीख न माँगते थे। वे कपड़े बुनकर जीवन-निर्वाह करते थे। घर वालों को रुला कर घर छोड़ने की आवश्यकता कभी उनके मन में अनुभूत नहीं हुई। वे कहते थे—

"अवधू भूले को घर लावै, सो जन हमको भावै।
घर में जोग भोग घर ही में, घर तजि वन नहिं जावै॥

बन के गये कलपना उपजै, तब धौं कहाँ समावै।
घर में युक्ति मुक्ति घर ही में, जो गुरु अलख लखावै॥
सहज सुन्न में रहै समाना, सहज समाधि लगावै।
उनमुनि रहै ब्रह्म को चीन्है, परम तत्त को ध्यावै॥
सुरत निरत सों मेला करिकै, अनहद नाद बजावै।
घर में बसत वस्तु भी घर है, घर ही वस्तु मिलावै॥
कहै कबीर सुनो हो अवधू, ज्यों का त्यों ठहरावै॥"

कठोर व्रत ठान कर कबीर ने अपनी इन्द्रियों को नहीं रोका। मन उनके अधीन था, इसलिए उनकी इन्द्रियों की गति अपने आप रुक गई थी। प्रेम और वैराग्य दोनों ही को स्वीकार करके कबीर ने कहा था—आज मैं अश्रुजल से प्रियतम के पैर पखार, प्रेमरस पान करके अपने सब साधनों को सार्थक करूँगा। आज मेरे घर में पाँचों सखियाँ (इन्द्रियाँ) मिल कर मङ्गल गीत गा रही हैं। उन्होंने उनके प्रेमसुर में अपना सुर मिला लिया है।

इन महासाधक की साधना के साथ उस समय की प्रचलित किसी साधना का मेल नहीं था, रामानन्द के अन्य शिष्यों की भाँति वे संसारत्यागी न थे। वे गृही होकर भी संन्यासी थे, और त्यागी होकर भी भोगी थे। स्त्री-पुत्रों के बीच घिरे रह कर भी ब्रह्म-ध्यान में मग्न रहते थे। जो ब्रह्म सर्वव्यापी है, उसे कबीर ने प्रेमयोग से सहज ही पा लिया था।

इस निरभिमानी प्रेमिक की साधुता ने आबाल-वृद्ध-नर-नारियों को मुग्ध कर दिया था। इनके उदार मत का आशय

न समझ कर भी झुण्ड के झुण्ड लोग मधुर धर्मोपदेश सुनने के लिए उनके समीप आते थे। भक्त कबीर के हृदय-कमल के दिव्य सुगंध से सभी काशीवासी विमोहित हो गये थे। छोटे-बड़े, धनी-दरिद्र, क्या हिन्दू क्या मुसलमान, सभी इस परम भक्त जुलाहे के पैरों की धूल देह में लगा कर अपने को पवित्र मानते थे। उनका विनय-विभूषित सरल व्यवहार और हृदयस्पर्शी अपूर्व धर्मोपदेश सबके चित्त को अपनी ओर खींच लेता था। कबीर का यह सम्मान कुछ जात्यभिमानी ब्राह्मणों को बुरा लगा। वे इस साधु की मर्यादा भङ्ग करने की चेष्टा करने लगे। उन ब्राह्मणों ने एक व्यभिचारिणी स्त्री को द्रव्य द्वारा राज़ी करके कबीर के पास भेज दिया। उस निर्लज्जा स्त्री ने बीच बाज़ार में कहा कि मैं कबीर की रखैली हूँ। कबीर ने विपक्षियों के बीच खड़े हो कर उस भ्रष्टा स्त्री को भगवान् का दिया दान समझ ग्रहण कर लिया। इससे कुछ दिनों तक चारों ओर कबीर की निन्दा हुई। साधारण लोगों में कोई कोई उन को बगुला-भगत समझ उनसे विमुख हुए, परन्तु उनके प्रियतम उनके इस निश्छल व्यवहार से और भी उनके प्रेम-पाश में बँध गये। साधु के शुभसमागम से उस पतित स्त्री के ज्ञान-नेत्र खुल गये। कुछ ही दिनों में उन कुचक्रियों की सब चाल-बाज़ी भी व्यर्थ हो गई।

कबीर के अभ्युदय-काल में सिकन्दरशाह लोदी दिल्ली के बादशाह थे। कबीर के विरोधी कट्टर हिन्दू और मुसलमानों

ने बादशाह के यहाँ नालिश की कि कबीर काशीवासी हिन्दू और मुसलमान दोनों मज़हबों के लोगों को भटका कर कुपथ में ले जारहे हैं। धर्मान्ध बादशाह ने बिना विचार किये इस अपराध में निर्दोषी भक्त को कठोर दण्ड दिया था। कबीर नें उस दण्ड को चुपचाप स्वीकार कर लिया था। बादशाह ने एक दफ़े फिर कबीर को सामान्य अपराध मैं कठोर दण्ड दिया था। भक्तश्रेष्ठ कबीर ने ऐसे असाधारण धैर्य के साथ उस दण्ड को स्वीकार किया कि उनकी वह सहिष्णुता देख बादशाह के आश्चर्य की सीमा न रही। उन्होंने कबीर के पैरों पर गिर कर क्षमा माँगी और कहा—"मैं आप के दास का दास हूँ। मेरे अपराध क्षमा कीजिए। मुझ पर ऐसी कृपा कीजिए जिससे मैं लोक और परलोक मैं सुख-शान्ति पा सकूँ। आप जो कुछ चाहें, मैं दे सकता हूँ।" कबीरने कहा—धन-दौलत को मैं कुछ नहीं समझता, अद्वितीय परमेश्वर के नाम के सिवा मुझे और कुछ न चाहिए।

जैसे जीवन मैं वैसे मृत्यु में भी कबीर ने अपनी वासना-विमुक्ति का परिचय दिया था। लोग समझते हैं कि काशी में मरने से शिवत्व प्राप्त होता है। मृत्यु के द्वारा इस कुवासना का खण्डन करने के लिए वे, मरने के पूर्व, काशी के निकटवर्ती बस्ती ज़िले के 'मगहर' गाँव में गये थे। कबीर ने कहा है—

"लोगो तुमही मति के भोरा।
ज्यों पानी में पानी मिलिगो त्यों ढुरि मिल्यो कबीरा।

ज्यों मैथिल को सच्चा वास, त्योंहि मरण होय मगहर पास ॥
मगहर मरै मरण नहिं पावै, अन्त मरै तो राम लजावै ।
मगहर मरै सो गदहा होई, भल परतीत राम सों खोई ॥"

क्या काशी क्या ऊसर मगहर, राम-हृदय बस मोरा ।
जो काशी तन तजै कबीरा, रामै कौन निहोरा ॥

कबीर साहब किसी सम्प्रदाय के अन्तर्गत न थे, इसलिए उनकी मृत्यु के अनन्तर उनके शव के सम्बन्ध में भी हिन्दू मुसलमान परस्पर झगड़ने लगे। किन्तु कबीर ऐसी युक्ति कर गये थे जिससे झगड़ा शान्त हो गया। काशीनरेश वीरसिंह ने काशी में (यहाँ कबीरपन्थियों का प्रसिद्ध स्थान 'कबीरचौरा' है) और मुसलमानों के मुखिया बिजली ख़ाँ पठान ने मगहर में कबीर का स्मृति-चिह्न स्थापित किया था। लहरतारा में भी सरोवर के तट पर कबीर के स्मरणार्थ एक मन्दिर बना था। वहाँ आज तक सभी सम्प्रदायों के स्त्री-पुरुष इस भक्त कबीर को हृदय की भक्ति-पुष्पाञ्जलि देने जाते हैं।

कबीर साहब बड़े दीर्घजीवी थे। १३९८ ई० में जेठ की पूर्णमासी को उनका जन्म हुआ था और १५१८ ई० में अगहन महीने के शुक्ल पक्ष की एकादशी को उनका देहान्त हुआ।

रैदास

भक्त ने कहा है—"मैंने बड़े भाग्य से दुर्लभ मानव-जन्म पाया है किन्तु अपनी बुद्धि के दोष से मेरा यह जीवन वृथा हो गया। यदि ईश्वर में मेरा प्रेम उत्पन्न न हुआ तो इन्द्र का सिंहासन पाने ही से क्या लाभ है? अथवा राजप्रासाद पाने ही से क्या होगा? हाय! मैं सांसारिक सुख-भोग की लालसा में भूल कर तुम्हारे नाम-रस का स्वाद न ले सका। मुझे जो जानना चाहिए था, वह मैं न जान सका। मैंने विषय में मत्त होकर जो सोचने की बात थी उसे कभी न सोचा। इधर मेरा समय भी अब पूरा हो चला। हाय! मैं कुछ तो सोचता हूँ और कुछ करता हूँ। सांसारिक सुख-लालसा ने मेरी बुद्धि को छिपा रक्खा है। हे भगवन्! तुम्हारे दास का हृदय इस दुःख से व्यथित हो रहा है। तुम अपने दास को दूर रखकर दुखी मत करो। उस पर दया करो।"

इस उक्ति के भीतर परम वैष्णव रैदास के साधन जीवन का कुछ इतिहास पाया जाता है। साधु रैदास कहाँ के रहने-वाले थे, उनके पिता कौन थे, उनकी माता का नाम क्या था—यह हमें मालूम नहीं। इसके न जानने से कोई हानि भी नहीं। कबीर साहब ने साधुओं का सुयश वर्णन करते समय वारम्वार कहा है—"साधुओं मैं साधु रैदास हैं।" भक्त रैदास भक्त-

समाज में बड़े प्रशंसनीय थे, इसी से उनका यथार्थ परिचय मिलता है। उन्होंने जिसके घर जन्म लिया था, उस घर में रहने का उन्हें बहुत दिनों तक सुयोग नहीं मिला। वे स्वभावतः विरक्त थे और साधु-सेवा के लिए खुले हाथ खर्च करते थे, जिससे उनके पिता ने नाराज़ होकर उन्हें घर से अलग कर दिया। उनके रहने के लिए घर से अलग सिर्फ़ एक झोपड़ी बनवा दी। बाप की धन-सम्पत्ति पर उनका कोई अधिकार न रहा। इससे रैदास को कुछ भी दुःख न हुआ। सम्पत्ति की तृष्णा उनके मन में न थी। रैदास चमार थे। वे प्रति दिन दो जोड़े जूता बनाते थे, एक जोड़ा किसी साधु को मुफ़्त पहिना देते थे और एक जोड़ा बेचने से जो कुछ मिलता उससे प्रसन्नता-पूर्वक सस्त्रीक गुज़र करते थे। श्रीभक्तमाल ग्रन्थ के अनुवादक श्रीकृष्णदास ने इस प्रसङ्ग में लिखा है—

जूता जोड़ा दोय, नित बनाय निज हाथ से।
आवैं वैष्णव कोय, ताको देतें जोड़ इक।
करैं देह निर्वाह, जोड़ा दूजो बेचि के।
सीते करि उत्साह, भक्तन के जूता फटे॥

बाहर से दीन-दरिद्र होने पर भी यह आदमी भीतर की सम्पत्ति से कितना बड़ा धनी था; पाप, ताप, दम्भ और अहङ्कार से दूषित साधारण मनुष्य इस बात को क्योंकर समझ सकेंगे। सच्चा जौहरी ही जवाहिर की परख कर सकता है। लोग कहते हैं कि साधन द्वारा सिद्धि प्राप्त करके महात्मा रामानन्द जब

भक्तिभाव के आवेश में तीर्थयात्रा को निकले थे तब उनकी प्रेम-परिपूर्ण दृष्टि के द्वारा कितने ही व्यक्ति प्रभावशाली भक्त बन गये थे। इन्हीं भक्तों में एक रैदास भी थे। रैदास अपनी कुटी के सामने झाड़ू दे रहे थे। उसी समय साधु रामानन्द ने पथिक रूप में उनसे एकाएक पूछा—"तुम कौन हो?" रैदास विस्मित होकर उनके चरणों की वन्दना कर के विनयपूर्वक बोले—"मैं एक अधम चमार हूँ।" रामानन्द ने कहा—"तुमको साधन करना होगा।" रैदास ने कहा—"मैं अत्यन्त नीच हूँ, मेरे लिए क्या यह कभी सम्भव है?" रामानन्द ने कहा—"देखो रैदास, बाहर का मार्ग साफ़ करने से काम नहीं चलेगा। धर्म के मार्ग में अनेक प्रकार का विघ्न-रूपी कूड़ा-करकट जम गया है। उसको तुम साधन-रूप बुहारी से दूर करो। तुम अब विलम्ब मत करो। दरबार में तुम्हारी पुकार हो रही है।" जान पड़ता है, परम वैष्णव रामानन्द के प्रेम की विमल किरणों से रैदास का हृदय-कमल विकसित हो गया था। चुम्बक के स्पर्श से सामान्य लोहा भी चुम्बक बन गया।

रैदास के बाहरी जीवन का वृत्तान्त बहुत कम पाया जाता है। ईश्वर के गहरे ध्यान और साधु-सेवा में उनका समय व्यतीत होता था। दारिद्र्य उनके अङ्ग का भूषण था। किसी तरह कष्ट से उनकी जीविका चलती थी। ईश्वर की कृपा से कभी वे भूखे नहीं रहते थे। किसी न किसी तरह भोजन का प्रबन्ध होही जाता था। ये बेचारे थे तो ग़रीब भक्त किन्तु भगवान्

को बहुत ही प्यारे थे । लेकिन इस बात को दुनिया न जानती थी, इस कारण कितने ही साधारण मनुष्य उनकी उपेक्षा करते और मोची समझ कर उनसे घृणा करते थे । 'भक्तमाल' में लिखा है—भक्त लोगों में यह रैदास नाम से प्रसिद्ध था परन्तु वह जो भगवान् का परम कृपापात्र था, यह कोई न जानता था ।

परीक्षा की तीव्र आग में जला कर भगवान् अपने भक्त के प्रेम को विशुद्ध कर लेते हैं । भक्त रैदास को भी वैसी ही परीक्षा में उत्तीर्ण होना पड़ा । एक दिन एक साधु ने उनके घर आतिथ्य स्वीकार किया । रैदास ने सब प्रकार से उनकी सेवा की । साधु ने अपनी झोली से पारस मणि निकाली और उसका गुण बतला कर रैदास को देनी चाही । परन्तु रैदास ने किसी तरह वह दान लेना स्वीकार न किया । उनको पारस मणि दिये बिना साधु मानते न थे और रैदास लेने को तैयार न थे । कुछ देर तक दोनों महात्माओं के बीच हुज्जत होती रही । आखिर रैदास ने कुछ खिसिया कर कहा—"आप की इच्छा हो तो उसारे के छप्पर में खोंस दीजिए ।" रैदास ने मणि को हाथ में लेने योग्य तक न समझा । उन्होंने अपने बनाये एक पद में कहा है—"भगवान् का नाम ही उनके सेवकों का परम धन है । वह दिन पर दिन बढ़ता ही जाता है । किसी तरह उसका नाश नहीं होता । दिन हो चाहे रात, कोई उसे छीन नहीं सकता । जो इस धन के अधिकारी हैं उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं । वे निर्भय हो सुख से अपने घर में सोते हैं । हे परमेश्वर, जिसे तुम ने इस धन का

अधिकारी बनाया है उसे पारस मणि की क्या आवश्यकता?"
इस प्रसङ्ग में श्रीभक्तमाल ग्रन्थ में लिखा है—

जिसने प्रेमानन्द मणि पाया परम पवित्र—।
साधारण मणि क्या उसे कभी सुहाता मित्र ॥१॥
लगी रहे हरिचरण में निसदिन जिसकी बुद्धि—।
वह न चाहता काम-सुख औ अष्टादश सिद्धि ॥२॥

एक वर्ष के बाद फिर वह साधु रैदास की कुटी में उपस्थित हुआ। उसने देखा कि रैदास की दरिद्रता ज्यों की त्यों बनी है। साधु ने रैदास से पूछा—"तुम ने पारस लेकर क्या किया?" रैदास ने कहा—"मैंने अभी तक उसे हाथ से भी नहीं छुआ है। छूने में मुझे डर लगता है। आप उसे जहाँ रख गये थे वहीं रक्खा है।" यह सुन कर साधु को बड़ा विस्मय हुआ। वह बखूबी समझ गया कि रैदास के हृदय में धन की लालसा नहीं है।

कहा जाता है कि रैदास एक दिन ठाकुरजी के आसन के नीचे पाँच अशर्फ़ियाँ पाकर डर गये थे। वे इस द्रव्य को लेकर क्या करें, इसका कुछ निश्चय न कर सके। आख़िर भगवान् की प्रेरणा से उस द्रव्य को लेकर उन्होंने वैष्णवों की सेवा में ख़र्च कर दिया। उसी समय उन्हें एक धनी भक्त से बहुत सा धन प्राप्त हुआ। उस धन से ठाकुरजी का मन्दिर बनवा कर उसमें नित्य प्रति वैष्णव-सेवा की रैदास ने अच्छी व्यवस्था कर दी। रैदास की दरिद्रता दूर हुई, उनके धर्म-भवन में भाँति भाँति के उत्सव होने लगे।

भजन-भाव, कीर्तन-ध्यान और महोत्सव में रैदास का समय सुखपूर्वक कटने लगा। रैदास की एकाएक इस प्रकार की श्रीवृद्धि ने कुछ लोगों की दृष्टि को अपनी ओर खींचा। दाम्भिक और जात्यभिमानी कई एक दुष्ट ब्राह्मण इस परमभक्त मोची को तरह तरह से बदनाम करने लगे। ब्राह्मणों ने काशी-नरेश के यहाँ रैदास की रिपोर्ट की कि रैदास चमार होकर अपने हाथ से ठाकुरजी को पूजता है। शास्त्र के अनुसार वह पूजा करने का अधिकारी नहीं। इस हेतु इस पाखण्ड के लिए उसे दण्ड मिलना चाहिए।

रैदास काशीनरेश के यहाँ बुलाये गये। उन्होंने नि:संकोच होकर निर्भीकभाव से अपना मत कह सुनाया। उनका युक्ति-युक्त वचन सुन कर काशीनरेश ने उन्हें अभियोग से मुक्त कर दिया। अभिमानी ब्राह्मणों का द्वेषमूलक अभियोग व्यर्थ हुआ।

रैदास का नाम सुन कर चित्तौड़ की रानी झाली बड़ी श्रद्धा से उनका दर्शन करने गई थीं। साधु का दर्शन करके रानी का चित्त भक्ति से द्रवित होगया और वे उनकी शिष्या होने के लिए व्याकुल हो उठीं। रानी झाली अपने स्वामी और नौकरों के साथ तीर्थ करने काशी आई थीं। उनके साथ के ब्राह्मण रानी के चित्त की ऐसी दशा देख कर बड़े विस्मित हुए और चमार के लड़के रैदास से मन्त्र लेने का वारंवार निषेध करने लगे। रानी ने उन लोगों की बात पर ध्यान न देकर कहा—जिनका हृदय भगवान् के चरण-कमल के ध्यान से

पवित्र होगया है उनको नीच कहना अपराध है। यह सब शास्त्रों में लिखा है कि चाण्डाल यदि हरिभक्त हो तो वह भी संसार को पवित्र कर सकता है।

ब्राह्मणों और नौकरों ने एक-मत होकर रानी के इस काम की सूचना राना को दी। राना ने रैदास को बुला कर इस विषय में अनेक प्रश्न किये। रैदास ने एक यही उत्तर दिया कि भगवान् मनुष्य का हृदय देखते हैं। उनके यहाँ जाति-पाँति का भेद-भाव नहीं। रैदास की साधुता देख कर राना मुग्ध हुए। रानी ने रैदास की चेली होकर उनसे मन्त्र लिया।

अपनी स्वाभाविक भक्ति के प्रभाव से रैदास अपना जीवन-धन भगवान् के चरणों में अर्पित कर और उन्हें पाकर के कृत-कृत्य हुए थे। उन्होंने जिस अलौकिक चिन्तामणि को पाया था उसके आगे पारस मणि किस लेखे में है। वे अपने आराध्य देव से कहते थे—"तुम में और मुझ में क्या भेद है? तुम सुवर्ण हो, मैं कङ्कण हूँ। तुम समुद्र हो, मैं तरङ्ग हूँ।" रैदास के बनाये अमूल्य 'पद' मनुष्य के मन के अहङ्कार और संशय को दूर करते हैं।

साधक राममोहन ।

राममोहन

गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनी ससंभ्रमाद्यस्य ।
तेनाम्बा यदि सुतिनी वद वन्ध्या कीदृशी नाम ?

"गुणिगणों के गणना-समय में जिसका नाम नहीं लिया जाता, उस पुत्र से यदि माता पुत्रवती कहलावे तो वन्ध्या कौन कहलायेगी ?" इस दृष्टि से सैकड़ों अधर्मी मूर्ख पुत्रों की माँ पुत्रवती नहीं कहला सकती। किन्तु एक मात्र धार्मिक विद्वान् पुत्र की माता पुत्रवती कहाकर पूजित होगी। हमारे सदृश लाखों करोड़ों सन्तानों को अङ्क में धारण करके भी भारतभूमि मातृ-गौरव को प्राप्त नहीं हो सकती। जिन इनी गिनी सन्तानों की माता कहा कर वह संसार के गुणीसमाज में मातृरूप से पूजित हो रही है उनमें राजा राममोहन राय अग्रगण्य हैं। इस महा-पुरुष ने देश के अत्यन्त दुर्दिन में, जब कि सभ्यता का नाम संसार से उठ चला था, वङ्गदेश के एक अप्रसिद्ध गाँव में जन्म लिया था। उस समय के जो ग्रामीण लोग हाथ में हुक्का ले, काँधे पर अँगोछा रखकर, वनसी के द्वारा मछली मारने में अपना बड़प्पन समझते थे वे इस प्रतिभाशाली बालक को दिहाती लोगों के बीच घेर कर न रख सके। राममोहन की—आकाशस्थित नक्षत्र-माला की भाँति चमकती हुई—अत्युज्ज्वल प्रतिभा चारों ओर इस प्रकार फैल गई थी कि उसने गाँव, नगर

को अतिक्रम कर सारे संसार को प्रभान्वित कर दिया था । विश्व की विराट् यज्ञशाला में वे एक मनोहर यज्ञीय उपकरण लेकर अचानक उपस्थित हुए थे । विश्व के समस्त परिचारकों ने विस्मयापन्न हो, बिना कुछ कहे-सुने, मातृभूमि के पूजकों के लिए पूर्व निर्धारित आसनों में से एक आसन पर उन्हें बड़े आदर से बिठा लिया । तब बङ्गाले के अप्रसिद्ध ग्रामवासी राम-मोहन राय केवल बङ्गदेश ही के नहीं, भारतवर्ष ही के नहीं, बल्कि समस्त भूमण्डल के महापुरुषों में आदरणीय हुए । वे भिखारी की भाँति खाली हाथ मातृभूमि के पूजागृह में नहीं गये थे, प्रत्युत राजा की भाँति प्रचुर द्रव्य लेकर वहाँ गये थे और माता के दिये ऐश्वर्य को उन्होंने सभी के बीच बाँट दिया था । जब उन्होंने अपने बहुत ऊँचे प्रतिभा के आसन पर खड़े होकर कर्ण-मधुर स्वर से सबको पूजा-घर में बुलाया तब क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, क्या किरिस्तान सभी वहाँ एकत्र हुए । उन्होंने जिस मन्त्र से माता की वन्दना, आराधना और उपासना की वह भारतीय होकर भी सार्वभौम माना गया । बङ्ग-माता की दूरदर्शी सन्तान ने पूर्ण प्रतिभाबल से गङ्गा के तट पर ब्रह्मो-पासना का जो विजयस्तम्भ बनाया था वह पवित्र स्तम्भमूल सब देशों के सब मनुष्यों के सम्मिलन का एक क्षेत्र होगया । धर्मक्षेत्र का जो महामिलन अब तक कवियों की कल्पना में विहार करता था उसका कोमल सूत्रपात राजा राममोहन विजय-शङ्ख बजाकर दुर्दशापन्न बङ्गदेश में कर गये हैं । उदार-हृदय धार्मिकों

ने उन्हें यह गौरव प्रदान किया है। आज अथवा शत सहस्र वर्ष के अनन्तर सारा संसार उन्हें इस गौरव से विभूपित करेगा ही। इन प्रतिभाशाली महापुरुष ने वङ्गदेश में जन्म लेकर समस्त वङ्गालियों को गौरवान्वित किया। हम इस समय राम-मोहन को स्वदेशवासी कह कर विदेश में गौरव प्राप्त कर सकते हैं।

राममोहन का अलौकिक चरित और जीवन-वृत्तान्त स्मरण कर के हृदय स्वभावतः आश्चर्य और आनन्द से भर जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि वे अतुल दैवी सम्पत्ति लेकर धराधाम में अवतीर्ण हुए थे। सत्य के प्रति अचल निष्ठा, ईश्वर के प्रति पूर्ण अनुराग, सब जीवों के प्रति असीम दया उनके स्वाभाविक गुणों में गिनी जा सकती है। सारी दुनिया में जब स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए भारी धूम मची थी, खूब मार्के का आन्दो-लन हो रहा था; इँगलैंड में जब बर्क, चैटिनहम, फ़ाक्स प्रभृति मनस्वी लोग स्वाधीनता का पक्ष समर्थन करके आग बरसाने वाली वक्तृता दे रहे थे; जब अमेरिका में वेन्जामिन, वाशिंग्टन प्रभृति महात्मा अपने देश के हितार्थ आत्मत्याग कर रहे थे; रूसो, वाल्टेयर की लेखनी जब फ़्रांसवासियों के चित्त को विक्षुब्ध कर रही थी तब, १७७४ ईसवी में, वङ्गदेश के भावी महापुरुष ने सब मनुष्यों के निकट अपनी स्वाधीनता का उदार संगीत-कीर्तन करने के लिए कृष्णनगर के समीपवर्ती राधानगर में जन्म लिया था। उनके जन्म-समय में सारा देश अन्धकार में डूबा हुआ था। अँगरेज़ों का शासन उस समय देश पर सम्पूर्ण रूप

से संगठित नहीं हुआ था । उस समय पश्चिमीय ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश देशवासियों के चित्त के अन्धकार को दूर न कर सका था । बाप-दादे की आध्यात्मिक सम्पत्ति खोकर उस समय भारतवासी निःसत्त्व बाहरी अनुष्ठान में भूले हुए थे । बाल्य-विवाह, बहुविवाह, सतीदाह आदि सैकड़ों कुसंस्कारों ने उस समय समाज को पाप-ताप से जर्जरित कर दिया था ।

वङ्गाले में तब न साहित्य था, न भाषा थी और न नाम लेने योग्य ज्ञान-विज्ञान या सभ्यता थी । ऐसे गम्भीर अन्धकार के समय प्रदीप्त पावक-शिखर के सदृश अतुल प्रतिभा लेकर राम-मोहन बंगाली के घर में उत्पन्न हुए थे ।

राममोहन के माता-पिता वैष्णव थे । बचपन में ही राम-मोहन ने गृह-देवता के प्रति अकृत्रिम प्रेम दिखाकर अपनी स्वाभा-विक भगवत्-प्रीति का प्रथम परिचय दिया था ।

यह अद्भुत शक्तिशाली बुद्धिमान् बालक बहुत कम उम्र में प्रारम्भिक पढ़ाई समाप्त कर नवें वर्ष में अरबी और फ़ारसी पढ़ने के लिए पटने गया था । दो तीन वर्ष वहाँ रहकर उसने अरबी ज़बान में युक्लिड की ज्यामिति (रेखागणित), अरिस्टाटल का ग्रन्थ, क़ुरान और सूफ़ी-साहित्य पढ़ा । उसी समय क़ुरान के एकेश्वर-वाद ने बालक राममोहन के चित्त पर अधिकार कर लिया । इसके बाद बारह वर्ष की उम्र में उसने काशी जाकर वेद, धर्मशास्त्र और संस्कृत-साहित्य के अनेक ग्रन्थ विशेष मनोयोग-पूर्वक पढ़े । हिन्दू शास्त्र के ब्रह्मज्ञान ने यहीं उसकी आँख खोल

दी थी। देश-व्यापी निःसार बाह्य पूजा से उसकी श्रद्धा जाती रही। सत्यनिष्ठ राममोहन के मन में धर्मसम्बन्धी आन्दोलन उपस्थित हुआ। वे आन्तरिक सत्य धर्म को बहुत दिनों तक मन में छिपा न सके। पिता रामकान्त के साथ धर्म-मत पर वाद-विवाद होने लगा। पुत्र का धर्ममत बदला हुआ देखकर रामकान्त दुःखित हुए। पिता के असन्तुष्ट हो जाने पर भी राममोहन अपने उपलब्ध सत्य से तिल मात्र भी विचलित न हुए। उन्होंने निर्भीक भाव से प्रचलित हिन्दूधर्म का प्रतिवाद करके एक पुस्तक बनाई जिसका नाम "हिन्दुओं की पौत्तलिक धर्म-प्रणाली" था। उस समय उनकी उम्र सोलह वर्ष की भी पूरी न हुई थी। अँगरेज़ी भाषा का उन्हें उस समय कुछ ज्ञान न था। वे अरबी, फ़ारसी और संस्कृत मात्र जानते थे। इसमें सन्देह नहीं कि बालक राममोहन की असाधारण प्रतिभा ने एतद्देशीय शास्त्र-समुद्र में प्रवेश कर अनायास ही सत्य-रत्न को ढूँढ़ निकाला था। सोलह वर्ष की उम्र में ही उन्होंने अपनी प्रतिभा का अमोघ परिचय दिया।

सत्य की पताका को जो हाथ में लेगा उसे असंख्य अस्त्राघात सहन करने ही होंगे। पिता रामकान्त ने क्रुद्ध होकर उसी समय राममोहन को घर से निकाल दिया। सत्य का झंडा हाथ में लेकर निर्भीक राममोहन, सोलह वर्ष की उम्र में ही, घर से निकल पड़े।

पिता का अभिशाप उनके लिए वरदान होगया। वे गाँव की

बैठक छोड़ कर राज-मार्ग में आ गये। अल्पवयस्क राममोहन भारतवर्ष के अनेक प्रदेशों में भ्रमण कर सभी सम्प्रदाय के धर्म-ग्रन्थ पढ़ गये। उन्होंने भिन्न भिन्न प्रदेशों की भाषाँ सीखीं। देश के पूर्ववर्ती धर्मप्रचारकों के साथ उनका परिचय हो गया। सर्वत्र धर्म की विकृत अवस्था देख कर उनका मन दुखी हुआ। सोलह वर्ष का बंगाली बालक, सत्य की खोज और स्वाधीनता के प्रबल आकर्षण से, संकटों और क्लेशों को तुच्छ समझ कर वर्फ़ से ढके हुए हिमालय पहाड़ को लाँघ कर तिब्बत की ओर गया। ईश्वर और सत्य के प्रति राममोहन की जो सच्ची प्रीति थी उसीने उनको इस असाध्य साधन में असाधारण शक्ति प्रदान की थी।

किशोर अवस्था के राममोहन अकेले सुदूरवर्ती अन्य देश में पहुँच कर बौद्ध धर्म के तत्वान्वेषण में प्रवृत्त हुए। सत्य के अनुसंधान की इच्छा ने उन्हें यहाँ भी घोर विपत्ति में डाल दिया। तिब्बती लोग 'लामा' उपाधिधारी व्यक्ति को संसार का सृष्टि-कर्त्ता मानते हैं। सत्यनिष्ठ राममोहन को यह सह्य न हुआ। उन्होंने निर्भय होकर उस कुसंस्कार का प्रतिवाद किया। इस कारण धर्मान्ध तिब्बती लोग उनको उचित दण्ड देने के लिए उत्तेजित हो उठे। कोमलहृदया तिब्बत की स्त्रियों ने उनको आश्रय देकर उस विपत्ति से बचा लिया। उसी समय से उनको स्त्री-जाति पर विशेष श्रद्धा उत्पन्न हुई।

इसके बाद राममोहन भारत को लौट आये। पिता राम-

कान्त ने उनको खोजने के लिए पश्चिमोत्तर प्रदेश में आदमी भेजा था। इस व्यक्ति के साथ वे चार वर्ष के बाद फिर अपने घर लौट आये। मत-भेद का ख़याल छोड़ कर स्नेहशील पिता ने फिर उन्हें ग्रहण कर लिया। उस समय राममोहन दत्तचित्त होकर संस्कृत शास्त्र की आलोचना में प्रवृत्त हुए। असाधारण बुद्धि के प्रभाव से उन्होंने बहुत थोड़े समय में स्मृति, पुराण आदि ग्रन्थों को देख डाला। पढ़ने में उनका अद्भुत अनुराग था। एक दिन सवेरे स्नान कर वे वाल्मीकीय रामायण पढ़ने लगे। पढ़ने में वे ऐसे निमग्न हुए कि भोजन का समय टल जाने पर भी वे पढ़ते ही रहे। दिन के तीसरे पहर एक व्यक्ति उनके पढ़ने की कोठरी में गया। राममोहन उसे इशारे से बैठने को कह कर फिर ध्यान-पूर्वक पढ़ने लगे। एकासन से सातों काण्ड रामायण, जिसके पढ़ने का पहले कभी अवसर न मिला था, समाप्त करके वे दिनान्त में भोजन करने गये। पाठ्य विषय में वे अपने मन को इसी प्रकार अनायास निमग्न कर सकते थे। उनकी एकाग्रता, उनका पठनानुराग सभी को चकित कर देता था। तत्त्वदर्शी पण्डित राममोहन का धर्ममत पूर्ववत् अटल था। उनके पिता रामकान्त भूल से यह समझ बैठे थे कि प्रवास में भाँति भाँति के क्लेश पाकर राममोहन ऐसा शान्त शिष्ट होगया होगा कि वह अब कभी पैतृक धर्म के विरुद्ध आचरण न करेगा। किन्तु ऐसा न हुआ था। वे अपने धार्मिक सिद्धान्त से ज़रा भी विचलित न हुए थे। अवसर प्राप्त होने पर राममोहन निः-

संकोच होकर मूर्त्ति-पूजा और अन्य कुसंस्कारों का तीव्र प्रतिवाद करते थे। पुत्र का व्यवहार सहन न करके रामकान्त ने दूसरी बार उन्हें घर से अलग कर दिया। पिता की मृत्यु के अनन्तर राममोहन की माता फूल ठाकुरानी ने भी सनातन धर्म में पुत्र की अश्रद्धा देख कर उनके विरुद्ध आचरण किया था। उन्होंने अपने विधर्मी पुत्र को पैतृक सम्पत्ति का उत्तराधिकारी न होने देने के लिए बड़ी बड़ी चेष्टायें कीं। किन्तु अदालत से बेटे की ही जीत हुई। राममोहन ने प्रौढ़ अवस्था में स्वयं एक जगह लिखा है—मेरा विचार हिन्दूधर्म पर आक्रमण करने का नहीं है और न मैं हिन्दू-धर्म का विरोधी हूँ। हिन्दू-धर्म के नाम से जो खोटे धर्म प्रचलित हैं उन्हीं पर मेरा आक्रमण होता है।

पिता का स्वर्गवास होने पर राममोहन को अपने घर में रहने की जगह मिली। उनके स्वभावसिद्ध लोकानुराग और असीम दया की बात पहले लिखी जा चुकी है। देश की सामाजिक कुप्रथायें उन्हें बड़ी यन्त्रणायें दे रही थीं। लोगों की नासमझी देख कर उनका हृदय अत्यन्त व्यथित हो रहा था। उन्हीं दिनों एक सती का, मृत पति के साथ जलाये जाते समय, घोर आर्त्त-नाद सुन कर और उस असहाया स्त्री पर स्वजन-वर्ग का अमानुषिक अत्याचार अपनी आँखों देख कर राममोहन का कोमल हृदय शोक से द्रवित हो गया। उन्होंने उसी क्षण प्रतिज्ञा की कि "जी-जान होम कर के मैं इस कुप्रथा को जड़ से उखाड़ डालूँगा।" पुरुष-सिंह राममोहन की प्रतिज्ञा व्यर्थ होने की नहीं।

कुछ दिन बाद लार्ड वैन्टिक की अनुकूलता पाकर, समस्त देश-वासियों के विरोध करने पर भी, उन्हें सतीदाह की प्रथा उठाने में सफलता प्राप्त हुई ।

बाल्यावस्था में राममोहन के हृदय में जिस सत्यभाव का उदय हुआ था उस भाव से वे एक दिन के लिए भी अपने जीवन काल में भ्रष्ट नहीं हुए । वे पूर्ववत् मूर्त्तिपूजा का प्रतिवाद और ब्रह्मज्ञान का प्रचार करते रहे । इसी कारण उन्हें माता ने फिर भी घर से निकाल दिया ।

अब की बार वे रघुनाथपुर में घर बना कर वहीं सपरिवार रहने लगे । बाइस वर्ष की उम्र में राममोहन ने अँगरेज़ी सीखना आरम्भ किया । शुरू में पाँच वर्ष तक वे इस ओर विशेष ध्यान न दे सके । हाँ, काम चलाने लायक़ कुछ अँगरेज़ी सीख ली थी । सोलह वर्ष तक उन्होंने अँगरेज़ सरकार की नौकरी भी की । कार्यक्षेत्र में अनेक राज-कर्मचारी उनकी कार्य-कुशलता और बुद्धिमत्ता देख कर विस्मित हुए थे । इसी समय डिगवी साहब के साथ उनकी घनिष्ठ मित्रता हो गई । डिगवी साहब रङ्गपुर के कलेक्टर थे । राममोहन वहाँ उनके सहकारी रूप में दीवान का काम करते थे । राजकाज से छुट्टी पाकर ये दोनों मित्र अँग-रेज़ी और देशी साहित्य की चर्चा किया करते थे । सुशिक्षित अँगरेज़ों के साथ विशेष परिचय होने पर उनकी यह धारणा हो गई थी कि अँगरेज़ लोग सामान्यतः अधिक बुद्धिमान्, कार्य-कुशल, उद्यमी और मिताचारी होते हैं । जिस शर्त पर राममोहन

ने डिगबी साहब की अधीनता में काम करना स्वीकार किया था वह इन महापुरुष की योग्यता के अनुकूल ही थी। शर्त यह थी कि, वे जब साहब के सामने आवेंगे तब उनको बैठने के लिए कुरसी दी जायगी और साधारण कर्मचारियों के नाम जैसे हुक्म जारी किया जाता है, इन पर न किया जायगा।

इस पराधीनता के समय में भी अपने जीवन के ऊँचे लक्ष्य को वे कभी नहीं भूले। उनकी नौकरी के तेरह वर्ष में से दस वर्ष रङ्गपुर में ही बीते। उन दिनों वे, साँझ होने पर, अपने घर पर सभा करके मूर्त्ति-पूजा की असारता और ब्रह्मज्ञान की उपयोगिता पर व्याख्यान देते थे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ भी उनको लोगों की नाराज़गी सहनी पड़ी थी।

चालीस वर्ष की उम्र में उन्होंने नौकरी छोड़ दी और कलकत्ते जाकर जीवन के महाव्रत-साधन में अपने को सम्पूर्ण रूप से अर्पित कर दिया। उन्होंने अपने अगाध पाण्डित्य, अविचल धर्मनिष्ठा, निर्मल प्रतिभा, देह, मन और धन-सम्पत्ति सभी पदार्थों को देश और समाज के हित-साधन में लगा दिया। विना सर्वस्व-त्याग किये वे उस महायज्ञ का अनुष्ठान किस प्रकार करते? उनकी प्रतिभा ने बात की बात में देश और विदेश के नवीन और प्राचीन ज्ञान-भाण्डागार में प्रवेश करके पृथ्वी के समस्त प्रचलित 'सत्य' के साथ उनका परिचय करा दिया। वे केवल दुनिया की प्रधान प्रधान भाषाएँ ही नहीं जानते थे बल्कि उन भाषाओं के वे खासे पण्डित भी थे। पुरुष-सिंह राममोहन ने

कलकत्ते पहुँच कर देशव्यापी कुप्रथाओं और मूर्त्ति-पूजा के विरुद्ध प्रकाश्य रूप से युद्ध की घोषणा कर दी। इस युद्ध में वे चार प्रकार के तीक्ष्ण अस्त्रों का व्यवहार करने लगे—प्रथम कथोपकथन, दूसरे तर्क-वितर्क, तीसरे विद्यालय का स्थापन, चौथे सभा का संगठन। ब्रह्मज्ञान के प्रचार के लिए उन्होंने बँगला भाषा में वेदान्त-सूत्र का भाष्य बना कर सब को वितरण किया। शीघ्र ही इस ग्रन्थ का अँगरेज़ी और हिन्दी भाषा में अनुवाद होकर प्रचारित हुआ। इसके बाद उन्होंने वेदान्तसार, वेदान्त-प्रवेश, उपनिषद् प्रभृति अनेक ग्रन्थों का प्रकाश कर के कलकत्ता शहर में धर्मान्दोलन की धूम मचा दी। उनके नवीन मत की तीव्र ज्वाला चारों ओर प्रदीप्त हो उठी। मूर्त्ति-पूजकों की ओर से सनातन धर्म का पक्ष लेकर शङ्कर शास्त्री और सुब्रह्मण्य शास्त्री उनके साथ शास्त्रार्थ करने को प्रस्तुत हुए। राममोहन के गम्भीर पाण्डित्य, प्रत्युत्पन्न मति और अकाट्य युक्तियों के सामने पण्डितों की पण्डिताई न चली। राममोहन बड़ी वीरता के साथ लोकानुमोदित वेद-विरुद्ध धर्म पर आक्रमण करके ब्रह्मोपासना का समर्थन करने लगे। अपना मत पुष्ट करने को उन्होंने अनेकानेक ग्रन्थ बनाये। मूर्त्तिपूजक-गण क्रोधान्ध होकर तरह तरह से राममोहन के अनिष्ट-साधन का प्रयास करने लगे।

कलकत्ते आने पर राममोहन ने अपने थोड़े से मित्रों को लेकर धर्म-चर्चा करने के लिए १७३५ शकाब्द में "आत्मीय-

सभा" स्थापित की । इस सभा का अधिवेशन उनके मानिक-तला वाले घर में होता था । १७५० शकाब्द के भाद्रपद की छठी तारीख़ को उनके मतानुयायी प्रिय बन्धु द्वारकानाथ ठाकुर, राय कालीप्रसन्न मुंशी, प्रसन्नकुमार ठाकुर और मथुरानाथ मल्लिक प्रभृति महाशयों ने सर्वसाधारण के लिए उपासनासभा स्थापित की । इस सभा-स्थापन के कुछ ही दिन बाद समाज-मन्दिर की स्थापना हुई । उस समय राममोहन के शत्रुओं की कमी न थी । वे उन शत्रुओं के बीच खड़े होकर ब्रह्मोपासना रूपी कुठार हाथ में ले अविद्या रूपी घने जङ्गल को छाँट कर रास्ते को साफ़ कर, देशोद्धार में प्रवृत्त हुए । वे ब्रह्मो-पासना का प्रचार करके पुरातन धर्म का सुधार करने लगे ।

महापुरुष राममोहन ने जिस देवता की आराधना के लिए सब देश, सब सम्प्रदाय और सब धर्म के मनुष्यों को बाधित किया था, वह देवता कौन है ? वह इस विश्व-ब्रह्माण्ड का सृष्टिकर्त्ता, सब जीवों का पालक, अप्रमेय, अनादि, अनन्त है। राममोहन ने इस सत्यस्वरूप देवता का जिस भाव से भजन करने को कहा है, उसका मर्म यों है—"तुम लोग इस परम-देव को अपने जीवन, प्राण, शरीर और सौभाग्य का कारण जान कर उसकी वन्दना करो; संसार में उनकी अपार महिमा देख कर प्रीतिपूर्वक उनका स्मरण करो । उन्हें शुभाशुभ कर्म्म का फल देनेवाला जान कर उन पर श्रद्धा करो अर्थात् यह समझो कि हम लोग जो कुछ करते हैं, कहते हैं, सोचते हैं, वह उनसे

छिपा नहीं रहता। इन्हीं देव का दयापात्र होने के लिए तुम-को सब जीवों पर प्रेमभाव रखना होगा। जिस व्यवहार से तुम्हारा मन प्रसन्न हो वैसा ही व्यवहार तुम सब के साथ करो।" इस परम-देवता की उपासना के लिए राममोहन ने जो मन्दिर बनवाया, उसका द्वार सब के लिए खुला रहेगा। जो उदाराशय, श्रद्धाशील पुरुष हैं उन्हींको उस मन्दिर में जाने का अधिकार होगा। सब मनुष्यों की मिलन-भूमि उस मन्दिर में किसी तरह की मूर्त्ति नहीं रक्खी जायगी। भोजन, पान, बलिदान, जीव-हिंसा आदि कोई अविहित कर्म उस मन्दिर में कभी न होने पावेगा। ऐसे उपदेश, वक्तृता, प्रार्थना और संगीत का उस मन्दिर में अनुष्ठान होगा जिससे सब मनुष्यों में परस्पर प्रेम-भाव का उदय होगा; सबों में ऐक्य-बन्धन दृढ़ होगा; प्रीति, नीति, भक्ति, दया और सुजनता की वृद्धि होगी; तथा संसार के उत्पत्ति-पालन-कर्त्ता परमेश्वर के प्रति अनु-राग बढ़ेगा।

महात्मा राममोहन के मत से उस ब्रह्मोपासना के दो अङ्ग निर्धारित हुए,—प्रथम चित्त को तुष्ट रखने का यत्न, द्वितीय परब्रह्म के विषय में ज्ञान की दृढ़ता। यह उपासना कैसे की जायगी? इसकी व्यवस्था स्वयं निर्दिष्ट कर उन्होंने कहा है—"यह इतना बड़ा संसार जो प्रत्यक्ष देखने में आता है इसका मूल कारण और चलानेवाला ईश्वर है। शास्त्र से तथा युक्ति से इस प्रकार का चिन्तन ही परमेश्वर की उपासना है।

इन्द्रियों का दमन, और प्रणव उपनिषद् आदि वेदाभ्यास में यत्न ही उपासना का साधन है। इन्द्रियों के रोकने का यत्न करना चाहिए, अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, और अन्तःकरण की वृत्ति को इस प्रकार ले चलना चाहिए जिससे अपनी बाधा और दूसरे की हानि न हो कर दोनों की भलाई हो। प्रणव, उपनिषद् आदि वेदाभ्यास में यत्न करने का तात्पर्य यह है कि हम लोग इस बात को भली भाँति जान गये हैं कि विना शब्द के अर्थज्ञान नहीं होता, इसलिए परमात्मा के प्रतिपादक प्रणव, व्याहृति, गायत्री, श्रुति-स्मृति और तन्त्रादि सद्ग्रन्थों का अवलम्बन कर उनके अर्थस्वरूप परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। यों ही अग्नि, वायु और सूर्य, इन सबों से जो क्षण क्षण उपकार हो रहा है और अनेक प्रकार के अन्न, औषध और फल-मूलादि वस्तुओं से जो अनेक उपकार हो रहे हैं, ये सब ईश्वराधीन हैं, इस प्रकार के अर्थ-प्रतिपादक शब्द का अनुशीलन तथा युक्ति-द्वारा उस अर्थ को दृढ़ करना चाहिए। ब्रह्मविद्या के आधार सत्य का प्रतिपादन वेद में वारंवार किया गया है। इसलिए सत्य का अवलम्बन करना चाहिए जिससे सत्यरूपी परब्रह्म की उपासना का समर्थन हो।" (ग्रन्थावली, पहला खण्ड, ४०६ पृष्ठ)

इस उपासना की प्रणाली और उस समय की अन्य उपासना-पद्धति के बीच दो ही भेद देख पड़ते हैं। राममोहन ने स्वयं कहा है—पुराने धर्म के साथ हमारा मतभेद दो प्रकार से है। एक तो यह कि पुरातनधर्मावलम्बी लोग ईश्वर को सावयव

मानते और स्थान आदि विशेषण द्वारा उसका अस्तित्व जान कर उपासना करते हैं। किन्तु हम लोग उनको उपास्य मानते हैं, जो कि जगत् के कारण हैं। इसके अतिरिक्त अवयव या स्थान आदि विशेषण द्वारा उनका निरूपण नहीं करते। दूसरी बात यह कि एक प्रकार के अवयव-विशिष्ट का जो उपासक है; उसके साथ अन्य प्रकार के अवयव-विशिष्ट के उपासक का विवाद देखते हैं। अर्थात् वे लोग अपने आराध्य विग्रह की विशेषता सिद्ध करने के लिए परस्पर लड़ते झगड़ते हैं। किन्तु हम लोगों के साथ किसी उपासक के विरोध की संभावना नहीं। (ग्रन्थावली, प० ख० ४०६ पृष्ठ)

विचार की दृष्टि से कोई व्यक्ति इस उपासना का विरोधी नहीं हो सकता। राममोहन ने जिस देवता को जगत् का कारण और परिपालक बताकर उसकी उपासना करने को कहा है, उसे कौन काट सकता है? संसार का कोई सम्प्रदाय अपने उपास्य देवता को भले ही किसी नाम से पुकारे, पर वह उसी को जगत्कारण और सृष्टिपोषक स्वीकार करेगा। इससे फल क्या हुआ? किसी ने आग को माना तो किसी ने धातु-विशेष को। राममोहन का उदार धर्म और अगाध पाण्डित्य साम्प्रदायिक संकीर्णता पर इस प्रचण्ड भाव से आघात करने लगा कि क्या हिन्दू, क्या किरिस्तान, किसी भी सम्प्रदाय के लोग उसे सह न सके। सभी उस धर्म के विरोधी हो गये। राममोहन के ऊपर चारों ओर से निन्दा, गाली-गलौज और प्रतिवाद की बौछार

होने लगी। जिन देशवासियों के भले के लिए उन्होंने सम्पूर्ण रूप से अपने को उत्सर्ग कर दिया था वे ही उनको गुप्त रीति से मार डालने के लिए चेष्टा करने लगे। किरिस्तान पादरी और उद्दण्ड हिन्दू दोनों दलों ने राममोहन को दबाने के लिए क्या उचित और क्या अनुचित सभी मार्गों का अवलम्बन किया। वे लोग अनेक प्रकार की भूमिका बाँध, पुस्तक छाप कर और धर्म-सभा करके राममोहन को दबाने की चेष्टा करने लगे। किरिस्तानों ने अपने छापेखाने में राममोहन की पुस्तक छापना अस्वीकार किया। हज़ारों व्यक्तियों का विरुद्धाचरण सत्य-प्रतिष्ठ राममोहन को उनके सिद्धान्त से रत्ती भर भी विचलित न कर सका। जिन बंगालियों ने पग पग पर उनको सताया और उनकी प्रतिष्ठा भङ्ग करने में कोई भी बात उठा नहीं रक्खी उन्हीं घोर अज्ञानतिमिराच्छन्न देशवासियों को उन्होंने अन्धकार-कूप से बाहर निकाल कर संसार की सभ्य-मण्डली में उपस्थित कर दिया। इस समय जो देश में राजनीति, समाजनीति, धर्मनीति, शिल्प, वाणिज्य और ज्ञान-विज्ञान का विकास हो रहा है इन सब विषयों का सूत्रपात राममोहन ही कर गये हैं। उन्हीं का गद्य लेख बँगला भाषा में प्रथम उल्लेख योग्य हुआ। उन्हींके प्रयत्न से देश में सबसे पहले अँगरेज़ी शिक्षा का प्रचार हुआ। इन महापुरुष का शुभ-हस्त सभी शुभ कार्यों में अग्रसर देखा जाता है। उन्होंने जिस घोर सामाजिक आन्दोलन की तीव्राग्नि में प्रवेश कर सतीदाह को रोका था उसका विचार

करने से आश्चर्य होता है। इसके अलावा वे कन्या-विक्रय, बहु-विवाह, जातिभेद आदि समस्त सामाजिक दोषों तथा कुसंस्कारों के विरुद्ध घोषणा कर गये हैं।

राजनैतिक क्षेत्र में भी उन्होंने देशवासियों का अधिकार बढ़ाने और राजा-प्रजा के बीच हृद्यता रहने के लिए विशेष यत्न किया था। राममोहन ने कहा है—"योरप की रीति से अपने देश की सामग्री बनाना आवश्यक है।" उन्हीं का कथन है—एकमात्र ज्येष्ठ पुत्र के पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी होने से देश का उपकार होगा। प्रजा ज़मींदार को जो मालगुज़ारी दे उसकी तादाद चिरकाल के लिए स्थिर रहनी चाहिए। न्याय के सुभीते के लिए व्यवस्थापक और विचारक-गणों को परस्पर स्वाधीन होना चाहिए।—सभी आलोच्य विषयों में उन्होंने वर्तमान युग का प्रवर्तन किया है, इस कारण वर्तमान युग को "राममोहन का युग" कहा जा सकता है। स्वदेश-प्रेमिक राम-मोहन अपने देशवासियों के कल्याण की इच्छा से इँगलैन्ड गये थे। उस समय ईस्ट-इन्डिया कम्पनी की नई सनद पर विचार करके भारतवर्ष का भावी राज्यशासन चिरकाल के लिए स्थिर होने की चर्चा चल रही थी। तब पार्लियामेन्ट से निर्वाचित एक कमिटी के सामने गवाही देने के लिए भारतवासियों की ओर से राममोहन विलायत गये। उनके विलायत जाने का एक कारण यह भी था कि ईस्ट-इन्डिया कम्पनी ने दिल्ली के सम्राट् को कुछ विषयों में अधिकारच्युत कर दिया था, इसकी सूचना

इँगलैन्ड के राज-पुरुषों को देने के लिए मुग़ल-सम्राट् ने राम-मोहन को "राजा" की उपाधि देकर वहाँ भेजा। इँगलैन्ड की विद्वन्मण्डली ने कुछ ही दिनों में इन महापुरुष के गुण, माहात्म्य, सुजनता और पाण्डित्य से मुग्ध होकर विजय का तिलक कर दिया। राजा के निश्छल व्यवहार से वहाँ के बालक-वृद्ध-युवा नर-नारी सभी मोहित हो गये। वहाँ उन्होंने अपने देश के कल्याणार्थ राजनीति-विषयक और धर्म-सम्बन्धी कुछ पुस्तकों का प्रचार किया। वहाँ की सभ्य-सभा में वे विशेष आदृत हुए। वेस्ट मिनिस्टर पत्र के सम्पादक बाउरिंग ने वक्तृता के समय कहा था—"यदि प्लेटो, साक्रेटीज़, मिल्टन या न्यूटन सहसा यहाँ उपस्थित हो जाते तो मन का जो भाव होता, उसी भाव से अभिभूत होकर मैं राजा राममोहन राय की अभ्यर्थना के लिए हाथ बढ़ाता हूँ।" इँगलैन्ड और फ्रांस के विद्वानों ने इन महात्मा को महापुरुष के आसन पर बिठा कर भक्ति की कुसुमाञ्जलि से पूजित किया। खेद का विषय है कि यह पूर्वदेश का चमकता हुआ तारा पश्चिम देश में जाकर सदा के लिए अस्त हो गया। राजा राममोहन ने जीवन और मृत्यु के द्वारा पूर्व और पश्चिम देश को एक सूत्र में बाँध दिया। पवित्र ओंकार का उच्चारण करते करते उनकी आत्मज्योति उपास्य देव के तेजःपुञ्ज में जाकर मिल गई।

हम लोग इस महापुरुष के अद्भुत चरित्र का वर्णन करने में असमर्थ हैं। हम लोग वैसा अगाध प्रेम और कहाँ पावेंगे,

जोकि सब देशों को, सब जातियों को स्वाधीन देखने के लिए सदा उत्कण्ठित रहता था। स्वाधीनता का झण्डा लेकर फ़्रांस का युद्धपोत आरहा है—राममोहन उस पोत का अभिनन्दन करने के लिए व्यग्र हैं। स्पेन में नियमतन्त्र शासन-प्रणाली प्रतिष्ठित हुई—राममोहन ने आनन्द में उन्मत्त होकर टाउन हाल में भोज दिया। उधर स्वाधीनता के लिए जूझ कर नेपल्स युद्ध में पराजित हुआ, और इधर मारे शोक के राममोहन शय्याशायी हुए! अफ़सोस! फिर बैकलेन्ड साहब से उनकी भेंट न हो सकी। ऐसा उदार प्रेम हमें देखने को और कहाँ मिलेगा?

स्त्रीजाति के प्रति अकृत्रिम श्रद्धा वे जिस तरह दिखाना जानते थे, उस तरह और कौन दिखा सकता है? मिसेस डेवि-सन नाम की एक अँगरेज़ महिला ने विस्मय के साथ प्रकट किया है—राजा राममोहन ने मुझको परमेश्वर की ऐसी गाढ़ भक्ति और श्रद्धा दिखा दी है जो, मेरे रानी होने पर भी, मुझे कोई दिखा न सकेगा।

दरिद्रों पर राममोहन की असाधारण दया रहती थी। एक दिन उन्होंने सुना कि उनके बेटे बाज़ार के दुकानदारों से चुंगी वसूल कर रहे हैं। उन्होंने फ़ौरन उन्हें बुलाकर कहा—देखो, ये बेचारे ग़रीब थोड़ी सी चीज़ें ख़रीद-फ़रोख़्त कर किसी तरह जीवन-निर्वाह करते हैं, उन्हीं के ऊपर ऐसा अत्याचार!

एक ओर उनमें जीवों के प्रति असीम प्रेम और दया थी और दूसरी ओर उनकी अविचल सत्यनिष्ठा, कर्त्तव्यसाधन और

अन्याय के साथ संग्राम की धुन थी। इन दोनों धर्मों ने मिल कर उनके चरित्र को अपूर्व माधुर्य प्रदान किया था। उनकी दृष्टि ऐसे महत्त्व से परिपूर्ण थी जिसको देखते ही लोगों का मन उन्नत होजाता था।

राजन्! मुझमें इतना सामर्थ्य नहीं कि मैं आपके प्रति पूरे तौर से अपनी श्रद्धा दिखा सकूँ। देश के अधिकांश लोग अभी तक आप को धर्मद्रोही और समाजद्रोही बता कर आपकी निन्दा करते हैं। हे पूज्यवर, आप जो जो काम कर गये हैं उनका असली तात्पर्य हम लोग अभी तक ठीक ठीक समझ नहीं सकते। आप जैसे महापुरुष की इस समय देश को बड़ी आवश्यकता है। हम लोगों का जीवन-स्रोत बँधे हुए जलाशय की भाँति हो गया है। उसको गति प्रदान करनेवाले की आवश्यकता है। आचार-विचार और छुआछूत के झमेले ने हमें बे-तरह घेर लिया है। प्रकृत धर्म के स्थान पर पाखण्ड का अधिकार होता जा रहा है। ऐसे समय आप जैसा महात्मा हमारी आँखें खोल दे तो हम ठीक मार्ग पर आ जायँ। हम लोग बारंबार आपको नमस्कार करते हैं; और उस विश्वव्यापी परमदेवता की वन्दना करते हैं जिसकी सत्य-पताका आप बड़ी प्रतिष्ठा के साथ मृत्युकाल तक ग्रहण किये रहे।